गंगा-पुस्तकमाला का दसवाँ पुष्प
नंदन-निकुंज
स्व० श्रीचंडीप्रसाद 'हृदयेश'

# नंदन-निकुंज

संपादक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
( सुधा-संपादक )

गंगा-पुस्तकमाला का दसवाँ पुष्प

# नंदन-निकुंज

[ ९ कहानियों का संग्रह ]

लेखक

स्व० श्रीचंडीप्रसाद 'हृदयेश' बी० ए०

ललित, मधुर, नवनीत-मृदु, मंजुल, मंगल-पुंज;
सरसत सुखद सनेह सों, आवहु हृदय-निकुंज ।

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३६, लाटूश रोड

लखनऊ

तृतीयावृत्ति

सजिल्द १।।) ] सं० १९९० वि० [ सादी १)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ
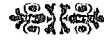
मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

# प्रस्तावना

महामाया, राजराजेश्वरी, भगवती कल्याणसुंदरी के चरण-कमलों की प्रोज्ज्वल प्रभा से पर्वतराज का मुकुट सुशोभित हो रहा था; कल-कल करती हुई कल्लोलिनी नगेंद्र की गोद में कलोल कर रही थी; मंद-मंद मारुत डोल रहा था। आनंद थिरक रहा था; रस बरस रहा था; अनुराग फूट रहा था। उसी समय मैंने इस निकुंज का प्रथम पुष्प 'पुष्पांजलि'-रूप से भगवती के पाद-पद्म में समर्पण किया था।

बहुत समय व्यतीत हो गया; जीवन में सहस्रों परिवर्तन हो गए। मनोमंदिर में कितने ही दीपक जगमगा उठे, और बुझ गए; आनंद और आँसू मिलकर एक हो गए; भावना और अभिलाषा कूकर मूक हो गईं; प्रेम और प्रसाद प्राप्त हुए, और खो गए। अब उनके काल्पनिक चित्र अवशिष्ट हैं; वे आपको समर्पित हैं।

कल्पना सत्य का सौम्य आभास है। सत्य की गंभीरता और सौम्यता, कल्पना के चित्र में कोमलता और स्निग्धता के स्वरूप में प्रकट होती है। हृदय-पयोधि में गर्जन करनेवाली प्रवृत्ति-तरंग-माला क्या चित्र में वैसे ही उन्मत्त भाव से हाहाकार कर सकती है? चित्त-कानन में प्रस्फुटित होनेवाली प्रणय-कलिका के चित्र में क्या वैसा ही अनुराग-सौरभ विकसित हो सकता है? नहीं, जो सजीव है, वह सजीव ही है; निर्जीव चित्र में उसका वैसा सुंदर स्वरूप चित्रित नहीं हो सकता। किंतु निर्जीव यदि सजीव का सादृश्य समुपस्थित कर सकने में कण-मात्र भी सफल हो सके, तो निर्जीव

की सार्थकता में संदेह करना उन्माद का पूर्व-लक्षण मानना ही पड़ेगा।

किंतु सादृश्य को भी देखकर उन्माद होता है। इसी सादृश्य को देखकर ही तो उन्मत्त कवि ने उपमा की सृष्टि और उस उपमा ही में पूर्ण प्रत्यक्ष का समस्त रहस्य निहित करने की चेष्टा की है। सफलता और असफलता पर चेष्टा का व्यापार निर्भर नहीं है। यदि राजराजेश्वरी की कृपा से मूक वाचाल हो सकते हैं, तो महामाया प्रकृति के सौंदर्य के प्रभाव से वाचाल मूक भी हो सकते हैं। यह तो अपने-अपने हृदय की प्रवृत्ति है। कोई वाचाल होकर कविता के कुंज में कूकने लगता है, और कोई मूक बनकर हिमाचल के तुषार-मंडित सुवर्ण-शिखर पर, मंदाकिनी-दुकूल पर, स्थित शांति-भवन में बैठकर, स्थिर निर्विकार होकर, सौंदर्य की मंद मराल-गति को एकटक देखने ही को अपने अनेक-जन्मार्जित पुण्य-पुंज का परम फल समझता है। तब सफल और असफल होने की आशंका से उत्तेजित क्यों हो?

नंदन-निकुंज जिसके चरण-कमलों के स्पर्श से रोमांचित होने के लिये लालायित हो रहा है, जिसके श्वास-सौरभ पर बलिहार होने के लिये कल्पना-कोकिला व्याकुल हो रही है, जिसके पाद्-पद्म के पराग को सिर पर धारण करके नृत्य करने के लिये सुख-समीर चंचल हो रहा है, वे राजराजेश्वरी यदि कभी कृपा करके अपने इस अकिंचन माली के सजाए हुए निकुंज में पधारकर उसे कृतार्थ करेंगी, तो अवश्य ही उसके आनंद-गगन में सौभाग्य-सुधाकर हँसकर पीयूष-धारा से उनके पाद्-पद्मों का प्रक्षालन करेगा।

| | |
|---|---|
| श्रीसरस्वती-पाठशाला, झाँसी;<br>मार्गशीर्ष-कृष्णा अमावस्या,<br>संवत् १९७१ | विनीत—<br>'हृदयेश' |

# विषय-सूची


प्रेम-परिणाम ... ... ... ... ६

प्रेम-पुष्पांजलि ... ... ... ... ३२

प्रणय-परिपाटी ... ... ... ... ५८

योगिनी ... ... ... ... ७७

मौन-व्रत ... ... ... ... १०५

उन्मत्त ... ... ... ... १२८

प्रतिज्ञा ... ... ... ... १५०

प्रेतोन्माद ... ... ... ... १६३

शांति-निकेतन ... ... ... ... १८२

# नंदन-निकुंज

## प्रेम-परिणाम

### ( १ )

No charm was in the spicy grove,
No spirit in the stream;
O't was the smile of her I love,
Now vanished like a dream.

—*I. C. Dutt*

कवि कहता है—अंबर-विहारिणी कल्पना प्रेम की प्यारी दुहिता है। मत्सर-पूर्ण संसार के कोलाहल में विचरणशील जन-समुदाय कहता है—कल्पना उन्माद की कन्या है। तब क्या प्रेम और उन्माद एक ही हैं?

शैलेंद्र इसी वर्ष बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हैं। उन्होंने अपने हृदय में अनेक आशाएँ रख छोड़ी थीं; किंतु आज वह उन्हें भूल गए हैं। अब वह अपना अधिक समय एकांत में बिताते हैं। भगवान् जाने, क्या सोचते हैं! तब क्या उन्हें उन्माद हो गया है? अथवा उनके हृदय में किसी का प्रेम-पारिजात फूला है?

मधुप नलिनी के सौरभ से उन्मत्त हो जाता है; अपने को

भूलकर उसी में तन्मय हो जाता है। तब क्या शैलेंद्र प्रेम-पारिजात के मनोमोहक आमोद से उन्मत्त हो गए हैं? शैलेंद्र स्वभावतः चंचल और हँसमुख थे। क्या वह प्रेम के पवित्र सौरभ में ऐसे तन्मय हो गए हैं कि अपने स्वभाव को भी उन्होंने तिलांजलि दे दी? क्या सचमुच ही प्रेम और उन्माद एक ही हैं?

नील नभामंडल में चंद्र-मंडल से निःसृत होकर चंद्रिका समस्त पृथ्वी-मंडल में सुधा-धारा की भाँति फैली हुई है। प्रकृति निस्तब्ध है; धीर समीर आमोद-परिपूर्ण होकर चतुर्दिक् बह रही है। शैलेंद्र शैलेंद्र की एक शिला पर बैठे हैं। उनके चरण-तल के समीप एक गिरि-निर्झरिणी मंद-मंद गति से, नवयौवना नायिका के मधुर पद-झंकार की भाँति मनोहर कलकल शब्द करती हुई, अपने निर्दिष्ट पथ की ओर अग्रसर हो रही है। सामने विशालकाय नगेंद्र कुसुमभूषिता लताओं का शीश-मुकुट धारण किए हुए खड़े हैं; भारतेश्वरी के गर्वित सैनिक की भाँति चिर-काल से उन्होंने अपना उन्नत मस्तक किसी से नत नहीं करवाया।

शैलेंद्र एकाकी नहीं हैं—उनकी प्यारी सहचरी कल्पना उनके साथ है। शैलेंद्र कल्पना-सहचरी से कथोपकथन करते हैं। आप नहीं देख सकते, किंतु उनके हृदय-क्षेत्र में बैठी हुई कल्पना सर्वदा उनका मनोरंजन करती है।

शैलेंद्र कल्पना करते हैं—"क्या इस संसार में प्रत्येक वस्तु प्रत्येक समय नवीन वेष धारण करती है? आमोद-पूर्ण समीर,

सौंदर्यमयी पर्वत-माला, गिरि-निर्झरिणी की मधुर ध्वनि, चंद्रमा का मधुर हास और प्यारी प्रकृति का पवित्र विलास आज हृदय में आनंद-स्रोत क्यों नहीं प्रवाहित करते ? जिसे जीवन का लक्ष्य बनाकर हृदयांजलि दी थी, क्या आज उसके बिना जीवन की गति भी विपरीत हो गई ? तब क्या संसार उस सौंदर्य की प्रतिमा के प्रकाश में ही अपने सुवेष की मधुर श्री का दर्शन कराता है ? क्या उसी मधुर हास में, उसी सुरभित श्वास में और उसी मनोहर विलास में सुधाधर का हास, सुरभि समीर का प्रवाह और प्रकृति का मनोरम विलास शोभा पाता है ?........."

कल्पना-सहचरी के साथ शैलेंद्र सर्व-संताप-हारिणी भगवती निद्रा-देवी के क्रोड़ में शयन करने लगे। शैलेंद्र, शैलेंद्र ! क्या तुम वास्तव में उन्मत्त हो ?

( २ )

There is a pleasure sure.
In being mad.
Which none but mad man knew,

—John Dryden

शैलेंद्र एक अपूर्व सुषमामयी रमणी-रत्न के पाद-पंकज में अपने हृदय को कुसुमांजलि अर्पण कर चुके हैं। आज से नहीं, इसे संभवतः ग्यारह वर्ष हुए। तब शैलेंद्र की अवस्था नव वर्ष की और उनकी प्रियतमा की आठ वर्ष की थी। उस समय कौन जानता था कि आपस का वह बालोचित

क्रीड़ाकलाप कालांतर में यौवनोचित प्रेम के वीणालाप में परिणत हो जायगा। शैलेंद्र का इस बीच में विवाह भी हो गया, किंतु उनके हृदय का दुर्दमनीय वेग किसी प्रकार शांत न हुआ। जीवन के अटूट प्रवाह में पड़कर वह समय बिताने लगे। प्रकृति के रमणीय स्थानों में कल्पना-सहचरी के साथ विचरण करना ही उन्होंने अपने लिये श्रेय समझा। उनकी प्रेमपात्री भी दूसरे की भार्या है। कह नहीं सकते कि वह भी उनसे प्रेम करती है या नहीं। किंतु हाँ, उनके मनोरंजन के लिये वह उन्हें कभी-कभी पत्र लिखती है। शैलेंद्र को वे पत्र पीयूष-प्रवाह की भाँति शांति-प्रद होते हैं।

आज पंद्रह दिवस के उपरांत शैलेंद्र को पत्र मिला है। उन्होंने कई बार उसे पढ़ा, किंतु तृप्ति न हुई। वह अपने निवास-स्थान से उठकर पर्वत-माला की ओर चले। मध्याह्न-काल था, किंतु वर्षा-ऋतु होने के कारण पार्वत्य प्रदेश में सूर्यदेव की उतनी प्रचंडता नहीं होती। समय का सहसा परिवर्तन हुआ। आकाश-मंडल में मेघ-माला का प्रादुर्भाव हुआ। सुरेश के सभा-स्थल की मृदंग-ध्वनि की भाँति मेघ-ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। मत्त मयूर अपनी लुप्त संपत्ति पाकर अतुल हर्ष से नृत्य करने लगे। पुष्पित-फलित-वनराजि-श्यामला, गिरि-निर्झर-वेष्टिता सुंदरी वन-भूमि ने अपूर्व श्री धारण की। शैलेंद्र प्रकृति-निर्मित निकुंज में बैठकर अपनी प्रियतमा का प्रेम-पत्र पढ़ने लगे। पत्र में लिखा था—

"प्यारे शैलेंद्र,

आज कई दिनों के उपरांत तुम्हें पत्र लिखने का अवकाश मिला। तुम्हें भली भाँति विदित है कि मुझे पत्र लिखने में कितनी कठिनाइयाँ होती हैं। किंतु कुछ नहीं, जिसमें तुम्हारे हृदय को सुख और शांति मिले, वही मेरा अभीष्ट है। इस बृहत् संसार में मुझे यदि कोई चिंता है, तो तुम्हें प्रसन्न करने की। तुम्हारे कमनीय मुखचंद्र पर एक बार मधुर हास्य-रेखा देखने के लिये मैं क्या नहीं दे सकती हूँ ? सुना है, आजकल तुम्हारा स्वास्थ्य कुछ खराब है। राजराजेश्वरी तुम्हें शीघ्र अच्छा करें। तुम्हारी प्यारी स्त्री कल कहती थीं—'बहन, तुम्हीं उन्हें अच्छा कर सकती हो। एक बार उन्हें यहाँ बुला लो।' मैं अपना सब कुछ देकर भी तुम्हें अच्छा करना चाहती हूँ, किंतु वह भोली-भाली छोकरी नहीं जानती है कि जिस पुष्प-कीट ने इस पारिजात में छिपकर उसे सत्यानाश किया है, उसे केवल जगदीश्वर ही अच्छा कर सकता है। वह बेचारी क्या जाने कि जो तुम्हारी दशा है, वही मेरी भी है। अच्छा, अब तुम जहाँ तक हो सके, शीघ्र आ जाओ। दो नहीं, चार नयन-चकोर चंद्र-दर्शन को लालायित हो रहे हैं। अधिक क्या।

तुम्हारी ही—

सरला।"

पत्र एक बार, दो बार, कई बार पढ़ा। हृदय का उद्वेग बढ़ने लगा। कल्पना करने लगे—"देखो, इन दो स्त्रियों में इतना प्रेम

क्यों ? विमला जानकर भी सरला से द्वेष नहीं करती, सरला विमला को अपनी बहन से भी अधिक चाहती है। ऐसा स्वार्थ-त्याग तो इस स्वार्थमय संसार में कठिनता से दृष्टिगोचर होता है। तब क्या यह प्रेम की वीणा का प्रभाव है, जो दो हृदयों में एक ही राग अलापती है। विमला कहती है—'बहन, तुम्हीं उन्हें अच्छा कर सकती हो।' सरले, विमला ठीक कहती है। इस जीवन में तुम्हें पाकर ही मैं अच्छा हो सकूँगा, किंतु विमले, तुम्हारी यह धारणा व्यर्थ है। यह हीरक-हार, यह दिव्य कुसुम, यह अपूर्व लावण्य मेरे भाग्य में कहाँ ? अच्छा, अब चलता हूँ। देखूँगा कि मेरा भाग्य फिर भी फिरता है या नहीं।"

सोचते-सोचते शैलेंद्र पर्वत-पथ भूल गए। वह उन्मत्त की भाँति इधर-उधर फिरने लगे। बहुत कठिनता से मार्ग मिला, किंतु उनके हृदय में इसका कण-भर भी प्रभाव नहीं। एक ही कल्पना—एक ही चिंता। तब क्या वह वास्तव में आनंद का अनुभव करते हैं। क्या उन्माद में भी मोद है ? क्या उन्मत्तता में भी अपूर्व आनंद है ?

( ३ )

अद्यापि तां क्षितितले वरकामिनीनां
सर्वांगसुंदरतया प्रथमैकरेखाम् ,
संसारनाटकरसोत्तमरत्नपात्रीं
कांतां स्मरामि कुसुमायुधबाणखिन्नाम् ।
—चौर कवि

शैलेंद्र ने इतने दिनों में क्या किया, सो भगवान् जानें। किंतु

उनके सौभाग्य से उन्हें एक उदार, सुशील एवं सर्वांग मित्र का अपूर्व लाभ हुआ। पार्वत्य प्रदेश में अभी छल, कपट इत्यादि ने प्रवेश नहीं कर पाया है। अब भी वहाँ सरलता का अखंड राज्य है। नर और नारी, सबके मुखों पर एक अपूर्व सरलता झलकती है। संध्या-समय जब पार्वतीय नारियाँ मनोहर कलकंठ से राग अलापती हुई गिरि-निर्झरिणी-तट पर जल लेने को आती हैं, तब वहाँ पर एक अपूर्व दृश्य दृष्टिगोचर होता है। उनका मधुर हास, उनका मधुर विलास, उनके आंतरिक अनुराग का द्योतक उनका मधुर राग और उनका सरल ज्योति-परिपूर्ण मुख-मंडल प्रकृति के इस अपूर्व सौंदर्य के साथ सम्मिलित होकर एक अपूर्व पवित्र भाव को जगाता है। वहाँ के मनुष्य भी बलिष्ठ, सुंदर और सच्चे होते हैं। वे आजकल की-सी सभ्यता-प्रसूत मित्र-मंडल की छल-कपट-युक्त बातें नहीं जानते। जिसे मित्र बना लिया, उसे जन्म-भर मित्र-भाव ही से देखा। वे आजकल की तरह के मित्र नहीं होते; अपने प्राण देकर भी मित्र की सहायता करते हैं। करणसिंह भी ऐसा ही एक बीस-इक्कीस वर्ष का युवक है। शैलेंद्र और करण में घनिष्ठ मैत्री हो गई। शैलेंद्र अब चलने की तैयारी में हैं। कल वह अपने घर जायँगे। कदली-वन के अभ्यंतर में पुष्पाभरण-भूषित लता-समूह का एक निकुंज-सा बन गया है। शैलेंद्र गान-विद्या में पारदर्शी नहीं, किंतु एकांत में बैठकर गुनगुनाया जरूर करते हैं। उनकी वाणी मधुर है; लय-स्वर

का ज्ञान न होते हुए भी गाने में वह कभी-कभी मस्त हो जाते हैं। आज भी शैलेंद्र उसी निकुंज में बैठे गा रहे हैं—

आली, चलु तोहिं बूझत श्याम।
तू इत दामिनि-सी दुरि बैठी, उत छाए घनश्याम;
बन, उपबन, नव कुंज-पुंज सब, लसत आज अभिराम।
ढूँढ़ फिरे ब्रजराज ताहिं सखि, डगर-बगर, ब्रज-धाम;
तो बिन अब 'हृदयेश' बिकल इमि, जिमि रति के बिन काम।

मधुर गान-लहरी सांध्य समीर पर आरूढ़ होकर कदली-वन में विचरण करने लगी। इसी समय कुंज के दूसरी ओर से एक बलिष्ठ नवयुवक, कुकड़ी लगाए, सैनिक वेष में, शैलेंद्र के सम्मुख आ खड़ा हुआ। शैलेंद्र अकचका गए। हँसकर बोले—"आओ करण, आज मैं तुमसे मिलने के लिये बड़ा चिंतित था।"

करणसिंह ने हँसकर कहा—"शैलेंद्र, वास्तव में तुम लोग बड़े झूठे होते हो। यहाँ बैठे-बैठे आनंद से गा रहे हो, और उस पर यह झूठ कि मैं तुमसे मिलने के लिये चिंतित था।"

शैलेंद्र ने कहा—"करण, यह बात नहीं है। तुम तो सदा ही से जानते हो कि मुझे तुम्हारी यह श्यामला वनराजि बड़ी प्रिय है। करण, वास्तव में तुम धन्य हो, जो तुम्हारा जन्म इस पवित्र वन-भूमि में हुआ है। देखो, कैसा अपूर्व प्राकृतिक दृश्य है। हमारे कवियों ने ऐसी वनस्थली का विशद वर्णन किया है। इच्छा होती है, तुम्हें सुनाऊँ; किंतु अभी और बहुत-सी बातें करनी हैं। भाई, हम कल अपने घर जायँगे।"

करण—"ऐं ! घर जाओगे ! क्यों ? इतनी शीघ्रता क्यों ? अभी उस दिन तो तुम कहते थे कि हमें पर्वत की वर्षा-ऋतु बड़ी प्यारी लगती है। हम यहाँ अभी महीने-भर रहेंगे।"

शैलेंद्र—"भाई करण, जानते हो, हमारे पास परवाना आया है कि फ़ौरन् दरबार-ख़ास में हाज़िर हो।"

करण—"हाँ, समझा। मालूम होता है, सरला का पत्र आया है। अच्छा भाई, अब किसकी सामर्थ्य है, जो तुम्हें रोके ?"

शैलेंद्र—"करण, इस जीवन में तुम्हें अपना सहचर बनाकर मुझे जितना आनंद हुआ था, सो मैं कह नहीं सकता। आज तुम्हें छोड़ने पर जितना दुःख होता है, उसे व्यक्त करने की शक्ति मुझमें नहीं है।"

करण—"ठीक है शैलेंद्र। तुम्हें तो वहाँ मनोरंजन करने की सामग्री मिल जायगी। किंतु भाई, हमें अपनी इसी पर्वतमयी वन-भूमि पर तुम्हारे वियोग में तप्त अश्रु-धारा छोड़ने के अतिरिक्त और क्या साधन है ?"

शैलेंद्र—"भैया, इस जीवन में तुम्हें छोड़कर प्रकृति-सुख का आनंद भोग सकूँगा, यह असंभव है। मेरे कोई भाई नहीं है। तुम्हें भाई जानकर मैंने उस अपूर्व भ्रातृ-प्रेम का अनुभव किया है। कैसा दिव्य प्रेम है !"

करण—"जाओ भाई, किंतु अपने वनचर भाई का स्मरण रखना।"

शैलेंद्र—"भैया, तुम्हें भूल सकूँगा ? ऐसी कल्पना भी दुस्सह है !"

करुण—"अच्छा, एक बार सरला से भी हमारा ज़िक्र करोगे ?"

शैलेंद्र—"अजी सरला और विमला दोनो से ।"

करुण—"अहोभाग्य ! अच्छा, सरला को उद्देश करके जो श्लोक तुम गाया करते हो, वही एक बार सुना तो दो ।"

शैलेंद्र—"कौन-सा ?"

करुण—"बनो नहीं ! वही चौर कवि का । जैसा उसका चोरी-चोरी का प्यार था, वैसा ही तुम्हारा भी तो है ।"

शैलेंद्र—"हाँ है, किंतु प्रयत्न करने पर भी तो नहीं छूटता ।"

अद्यापि तां कनकचंपकदामगौरीं
फुल्लारविंदनयनां तनुलोमराजिम् ।
सुप्तोत्थितां मदनविह्वलसालसांगीं
विद्यां प्रमादगलितामिव चिंतयामि ।

करुण—"अहा ! मत भूलो ! लेकिन हमें भी न भूलना ।"

शैलेंद्र—"चलो, आज हमारे ही यहाँ रहना ।"

शैलेंद्र और करुण हाथ में हाथ देकर वन में घूमने चले गए ।

( ४ )

तबे प्राण यातनाथ, उतलुक ते चलि नाहीं ;
से आमार सुखे थाक, नाहीं अन्य कोन साध ।

—श्रीमती स्वर्णकुमारीदेवी

आज रात्रि की ट्रेन से शैलेंद्र घर आवेंगे । आज दो मास के

उपरांत विमला को पति-दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होगा। कितनी निद्राहीन रात्रि—कितने अनशन दिवस विमला ने काटे हैं, सो कौन जानता है! कितने ही व्रत, नियम, उपवास, अनुष्ठान आदि का पालन किया है; कितनी ही बार अश्रु-पूर्ण-लोचना होकर भगवती राजराजेश्वरी कल्याण-सुंदरी से शैलेंद्र के सकुशल लौट आने की प्रार्थना की है! आज शैलेंद्र का तार आया है। वह रात्रि के बारह बजे आवेंगे। आज विमला की अमावस्या पूर्णिमा में परिणत होगी। आज रात्रि में विमला का सुदिवस होगा।

शैलेंद्र परीक्षा देकर शैलेंद्र-विहार को गए थे। उनके हृदय का भाव तो भगवान् जानें, किंतु घर पर वह यही कहकर गए थे। सरला और शैलेंद्र में बाल्य-काल ही से प्रेम था। विमला इस बात को जानती थी। सरला भी जानती थी कि विमला जानती है। विमला और सरला में भी घनिष्ठ मैत्री थी। अनेक बार सरला और विमला ने मिलकर शैलेंद्र को हँसी में परास्त किया था। जब कभी शैलेंद्र सरला का सरल मुख-चंद्र देखना चाहते, तो उन्हें विमला की शरण लेनी पड़ती थी। विमला सरला को न्योत बुलाती थी; उनके प्रेम-संभाषण में स्वयं भी योग देती थी। शैलेंद्र विमला का भी यथेष्ट मान करते थे; उन्होंने अपने प्रेम के उद्वेग में कभी भूलकर भी विमला का तिरस्कार नहीं किया। वह सर्वदा यह बात मन में रखते थे कि उनके प्रकृत प्रेम की अधिकारिणी विमला है, और वह विमला के साथ अन्याय

कर रहे हैं, किंतु अपने हृदय के सम्मुख लाचार थे। इधर कुछ दिनों से घरवालों के व्याघात से सरला को विमला के घर आने का अवकाश कम मिलता था। कह नहीं सकते कि शैलेंद्र इसी कारण धराधरेंद्र-विहार के लिये चले गए थे, अथवा और कोई कारण था।

आज शैलेंद्र आवेंगे। आज विमला का अपूर्व सौभाग्य होगा। विमला को शैलेंद्र ने जो पत्र लिखा है, उसमें उन्होंने लिखा है—"विमले, तुम्हारी सहेली के और तुम्हारे लिये एक पार्वतीय ढंग की पोशाक लाऊँगा।" विमला हँसकर सोचती है—"क्या मुझे पहाड़िन बनना होगा?"

आज विमला ने सरला को न्यौत बुलाया है। सरला के आपत्ति करने पर भी विमला ने न माना। सरला अपनी बड़ी बहन कमला के साथ आज विमला की हर्ष-लहरी में अपनी आमोद-लहरी मिलाने आई है। कमला भी सरला का वृत्तांत जानती है। कमला और सरला में अपूर्व भगिनी-प्रेम है। दोनो सगी बहनें हैं। दोनो में अपूर्व विश्वास है। कमला भी साथ ही में आनंद-लहरी मिला रही है। आज विमला के घर में विमलानंद की त्रिवेणी बह रही है।

विमला के मुख पर हँसी; सरला के हृदय में हँसी; कमला के अधर पर हँसी। विमला के घर में आज मानो हास्य-रस की धवल धारा प्रवाहित हो रही है। बालक हँसते हैं कि चाचा आवेंगे। बुड्ढे प्रसन्न होते हैं कि लड़का आवेगा। स्त्रियाँ हँसती

है; कोई कहती है—"देवर आवेंगे", कोई कहती है—"विमला के दूल्हा आवेंगे।" आज सब हँस रही हैं, मानो हँसो की मंदाकिनो में फँसी सब बही जा रही हैं।

विमला और सरला एक सुसज्जित प्रकोष्ठ में बैठी हैं। विमला ने पान लगाकर सरला को दिया। सरला ने किंचित् मुस्किराकर, उस सुसज्जित प्रकोष्ठ में एक अपूर्व मधुरता का विकास कर, कर-कमलों से पान लेकर अपने मुख-कमल में रख लिया। आज सरला खूब सजकर आई है। एक तो यों ही अनिंद्य रूप-लावण्य, उस पर और मनोहर वेष-भूषा। ज्ञात होता है, मानो आज सुंदरता स्वयं रूप धारण करके आई है। विमला भी ठाट-बाट बनाए है, बात-बात में हँसी पड़ती है। अत्यंत सुंदरी न होने पर भी आज वह सुंदरी-सी प्रतीत होती है।

सरला ने कहा—"बहन, आज तो मिठाई खिलाओ। आज तुम्हारे 'हजरत' आवेंगे।"

सरला ने शैलेंद्र को 'विमला के हजरत' की उपाधि दे रक्खी है। इसी समय सहसा कमला ने भी पदार्पण किया। कमला ने हँसी की एक धवल धारा छोड़ते हुए कहा—"हिस्सा हमारा भी है।" विमला कमला का मान करती है, और प्रायः उनके सम्मुख आमोद-प्रमोद में भाग नहीं लेती। विमला ने कुछ लज्जित होकर, कुछ मंद हास्य करके, छोटा-सा घूँघट काढ़ लिया। सरला ने कहा—"बहन, तुम जाओ। तुम्हारे सामने यह शर्म करती है। मिठाई के समय मैं तुम्हें बुला लूँगी।" कमला हँसकर अन्य

स्त्रियों के पास चली गई। कमला स्वभावतः बड़ी हँसमुख थी; शैलेंद्र की तो उसने कई बार हँसी में हँसी उड़ाई थी। चलते-चलते कमला ने हँसकर इतना कह ही तो डाला—"लज्जावती, आज रात को शैलेंद्र के साथ भी इतनी लज्जा कर सको, तो समझूँ!" कमला के चले जाने पर विमला ने फिर मुँह खोला। सरला ने फिर कहा—"बोलो जी! तुम तो मिठाई के नाम एक-दम चुप हो गई!" विमला ने मुस्किराकर कहा—"बहन, क्या तुम्हें खुशी नहीं है?" सरला ने कहा—"हमें तो इसीलिये खुशी है कि आज तुम्हारा खुशी का दिन है।" विमला ने किंचित् व्यंग्य के साथ कहा—"क्या तुम्हारा उनके आने से कुछ संबंध नहीं?" सरला कुछ झिझककर, बनावटी रूखेपन के साथ, बोली—"हमारा क्या संबंध होगा? देखो जी, तुम ज़रा ठीक-ठीक बोला करो।" विमला खिलखिलाकर हँस पड़ी। सरला और चिढ़ी। सरला के विशाल वेणी-भूषित ललाट पर कुछ क्रोध-रेखा दृष्टिगोचर हुई; स्वभावतः कटाक्ष-युक्त लोचन-युगल में कुछ और तिरछापन और रक्तिमा प्रादुर्भूत हुई। विमला ने कुछ विनय के साथ कहा—"बहन, क्या अप्रसन्न हो गईं? तुम्हीं ने तो कई बार कहा था कि तुम्हारे हज़रत हमारे भी प्यारे हैं।"

सरला के हृदय में धड़कन होने लगी। दो-एक प्रस्वेद-बिंदु कपोल-युगल पर दृष्टिगोचर हुए। ज्ञात हुआ, अभी कमल पर कमला की मुक्ता-माला के कुछ मुक्ता टूट पड़े हैं। सरला कुछ देर चुप रही। फिर बोली—"विमले, तुम्हें संभवतः यह

बुरा मालूम होता होगा कि तुम्हारे हजूरत किसी और के भी हृदयेश्वर हैं।"

विमला ने कहा—"बहन, प्रेम में ईर्ष्या क्यों? जिसे हमारा हृदय चाहता है, उसे यदि तुम भी चाहती हो, तो दोष क्या है? मेरी समझ में तो उन्हें यदि सारा संसार चाहे, तो भी मैं बुरा न मानूँ।"

सरला स्तब्ध हो गई। एक बार विमला की ओर देखकर बोली—"विमले, क्या सच कहती हो? स्त्री-मंडल में तो प्रेम की ईर्ष्या का बड़ा आधिक्य है।" विमला ने कहा—"सरले, मैंने आज तक कभी तुमसे मिथ्या नहीं कहा। मैं प्रेम की आचार्या नहीं। वह कभी-कभी बड़े-बड़े लंबे ग्रंथ प्रेम पर पढ़ते हैं। किंतु मैं इतना जानती हूँ कि मुझे कभी स्वप्न में भी ईर्ष्या नहीं होती; कभी स्वार्थ का विचार नहीं होता। जब वह यहाँ नहीं थे, तब भी मैंने कभी उन्हें निष्ठुर नहीं कहा। मुझे दुःख हो, किंतु वह सुखी रहें, यही मेरी सर्वदा धारणा रही।"

सरला—"विमले, तुम रमणी-रत्न हो; तुम्हारे संग से मैं अपने को धन्य मानती हूँ।"

विमला अब हँसकर बोली—"ठीक है! रानीजी, आप जो न कहें, सो थोड़ा। जिन्हें पाकर मैं धन्य होती हूँ, वह तुम्हारा यह गोरा-गोरा मुख देखकर धन्य होते हैं।"

सरला ने जरा हटकर कहा—"विमले, तुम बड़ी खोटी हो। अच्छा, अब मुझे आज्ञा दो।"

विमला—"आज भला तुम कैसे जाओगी ? आज तो तुम दोनो को सामने बिठाकर मुझे आरती करनी है।"

सरला—"विमले, मुझे ऐसी बातें नहीं भातीं। भला मैं रात को कैसे रह सकती हूँ ?"

विमला—"रात की रक्षा का भार मेरे सिर।"

अधिक क्या, विमला के अनुरोध से कमला और सरला को रहना पड़ा।

( ५ )

आमारे ना येन करि प्रचार,
आमार आपन काजे।
तोमार इच्छा कर हे पूर्ण,
आमार जीवन माझे।
याचि हे तोमार चरम शांति ;
प्राणे तोमार परम कांति ;
आमारे आड़ाल दिया दाँड़ाओ
हृदय-पद्म-दले।
सकल अहंकार हे आमार
डुबाओ चोखेर जले।

—रवींद्र

No, no, the utmost share
Of my desire shall be
Only to kiss that air
That lately kissed thee.

*—Herrick*

मालूम नहीं कि रात को विमला ने सरला और शैलेंद्र को एक

आसन पर बिठाकर आरती की या नहीं, किंतु हाँ, रात को कोई घंटे-भर तक खूब रँगरेलियाँ रहीं। कमला, सरला और विमला, तीनो ने मिलकर शैलेंद्र पर एकदम हास्य की, कटाक्ष की, प्रश्नों की, हर्ष की, आमोद की और कटीले फूलों की वर्षा की। एकाकी शैलेंद्र उस विश्व-विमोहिनी मोहिनी-त्रयी से वाक्-युद्ध में परास्त हो गए। कई बार खिजलाकर उन्हें अपना मस्तक नत करना पड़ा। कॉलेज का मसखरापन और मित्र-मंडल में होनेवाली वाक्-चातुरी सब व्यर्थ हुई। शैलेंद्र को आज पता चला कि अबला से भी पुरुष अनत है। प्रमदाओं के प्राबल्य का पूरा-पूरा प्रमाण पाकर शैलेंद्र आज बहुत घबराए। अंत में सरला और कमला ने विमला और शैलेंद्र को एकांत में संभाषण करने का अवकाश दिया। दंपति का प्रेम-संभाषण विदित ही है। पहलेपहल पत्रोत्तर में किंचित् विलंब होने के कारण निष्ठुर की उपाधि, उसके उपरांत कुछ मान, उसके उपरांत मान-भंग, फिर प्रेम का प्रवाह। बस, यही बिछुड़े हुए दंपति की मिलन-रात्रि का प्रोग्राम है।

प्रातःकाल हुआ। प्राची दिशा भी आज, विमला की भाँति, रजनी-वियोग के उपरांत दिनपति पति को पाकर, लज्जा-युक्त लोचन-युगल में अपूर्व अनुराग को प्रकटकर, फूलों की चटकारी के मिस से हँस रही है। सरला और कमला की भाँति आज पक्षि-कुल मनोहर परिहास कर रहा है। चंचला सहचरी की भाँति ठंडी हवा बार-बार अठखेलियाँ करके उसे खिझा रही है।

कमल खिले। चकवे के हृदय-कंज खिले। कुसुम के गुच्छे खिले। सरला के मधुर अधर खिले। और शैलेंद्र, शैलेंद्र का हृदय-कंज भी अपूर्व श्री से खिला। आज शैलेंद्र का सुप्रभात है। प्राची दिशा की लालिमा से भी अधिक आज शैलेंद्र की अनुराग-रक्तिमा है। शैलेंद्र आज भी उन्मत्त हैं। प्राणेश्वरी को पाकर प्राण (हृदय) पागल हो उठा है। आज जीवन की सहचरी को पाकर शैलेंद्र जीवन्मुक्त-से हो गए हैं। शैलेंद्र—शैलेंद्र, तुम वास्तव में उन्मत्त हो!

कवि कहता है—"प्रेम अंधा है (Love is blind)।"

क्यों? क्या प्रेमी अंधा हो जाता है? हाँ, हो जाता है। संसार के लिये वह अंधा है। वह संसार को नहीं देखता, संसार के सार को देखता है। सार को देखकर पागल होता है। संसार का सार क्या प्रेम की तीक्ष्ण सुरा है?

जीवन का मोह, प्राण की वासना, हृदय की अभिलाषा, मान का ध्यान, अपमान का गुमान, सबको सच्चा प्रेमी भूल जाता है। उर्दू और फ़ारसी-साहित्य के 'लैला और मजनूँ', 'शीरीं और फ़रहाद', अँगरेज़ी-साहित्य के 'रोमियो और जूलियट', संस्कृत-साहित्य के 'नल और दमयंती', 'शकुंतला और दुष्यंत' सब पागल हैं। मजनूँ सहरा की ख़ाक उड़ाते हुए लैला का जप जपता है। फ़रहाद विशालकाय पर्वत में शीरीं का शीरीं राग अलापते हुए एक रात्रि में नहर खोदने का दुस्साहस करता है। रोमियो श्मशान में पहुँचकर अपने अकिंचन प्राण विसर्जन

करता है। नल वन में दमयंती के विरह में रोता है। दुष्यंत चक्रवर्ती सम्राट् होकर भी प्रेम की व्यथा से अत्यंत व्यथित होता है। कौन नहीं जानता, मथुरा-गमन के पश्चात् व्रज-गोपिकाएँ रो-रोकर, कृष्ण के विरह में, कालिंदी के कूल पर, नील सलिल में नयन-सलिल को मिलाकर, अत्यंत करुणा-व्यंजक स्वर में गाती हैं—

जा थल कीन्हे बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं ;
जा रसना ते कियो रस-बातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं ।
'आलम' जौन से कुंजन मैं करी केलि, तहाँ अब सीस धुन्यो करैं ;
नैनन मैं जे सदा रहते, तिन कान्ह की कान कहानी सुन्यो करैं ।

तब क्या कवि की सृष्टि में प्रेम के उपासक और उपासिका पागल होते हैं? कवि उन्मत्तता में प्रेम का आभास क्यों देखता है? पागलपन और प्रेम क्या एक ही अचल से निकलकर, दो धाराएँ होकर, भूतल पर आए हैं?

आज शैलेंद्र संयोग में पागल हैं। लुप्त राज्य पाकर, प्राणों से प्यारी खोई हुई मणि पाकर, उत्तप्त प्राणों के लिये शीतल मंदाकिनी पाकर, आज शैलेंद्र हर्षोन्मत्त हुए हैं। विषाद के तप्त अश्रु आज नहीं हैं; आज हर्ष के तुषार-शीतल अश्रु लोचन-युगल से परिमुक्त होकर उत्तप्त वक्षःस्थल शीतल कर रहे हैं।

शैलेंद्र के मकान से लगा हुआ एक छोटा-सा उपवन है। शैलेंद्र रसिक-मंडल के सभ्य हैं, स्वयं भी रसिक हैं। इसीलिये वह प्रायः

फूलों और लताओं के विशेष प्रेमी हैं। एक बार सरला ने शैलेंद्र को हँसी-हँसी में अपनी 'हृदय-वाटिका का माली' कहा था। शैलेंद्र अब सरला को पत्र लिखते हैं, तो अपने को माली लिखते हैं, और इसी बहाने सरला को कभी-कभी कुसुम-हार पहनाकर अपने को धन्य मान लेते हैं। शैलेंद्र कभी-कभी इसी उपवन के सुमन-समूह से सरला को सुसज्जित करके, कुंज-भवन में कुसुमासन पर बिठाकर, घंटों देखते हैं। इस उपवन में मालती-रसाल का सबंध, लवंग और कदंब का संयोग, बकुल और मालती का सहयोग दृष्टि-गोचर होता है। आज इसी बाग़ में शैलेंद्र टहल रहे हैं। टहलते-टहलते गाने लगे—

रँगीली रंग-रँगी रतनार ;
बार-बार बरजत पिय, तोकूँ, करहु न मो सन रार।
सोवत निसि-दिन नित सौतन-सँग, हमसों करत करार ;
जाहु-जाहु नहिं छुवहु छबीले, नहि ह्वै है तकरार।

प्रातःसमीर की मधुर ध्वनि में, कलियों की चटक-ध्वनि में, पक्षि-दल के मधुर कलरव में, कोकिल के कमनीय कंठ-राग में और पीछे सरला की सरल हास्यमयी एवं प्रफुल रागमयी वाणी से आहूत 'शैलेंद्र'-शब्द में मिलकर शैलेंद्र की गान-लहरी मानो उपवन को प्लावित करने लगी।

शैलेंद्र ने पीछे फिरकर देखा। देखा, नयनों की पुत्तलिका, हृदय की अधीश्वरी, जीवन की सहचरी, प्राणों की ईश्वरी, अनुराग-सागर की कमला, अंधकार-पूर्ण संसार-पथ की

आलोक-माला और प्रेम-सदन की देवबाला सम्मुख खड़ी है। प्रेम की वीणा की रागिनी, प्रेम-मंदिर की प्रतिमा, सुप्रभात की भैरवी, जीवन-निशा की कौमुदी आज शैलेंद्र के सम्मुख जीवन-मूर्ति में खड़ी है।

शैलेंद्र एकटक देखने लगे। सरला भी निस्तब्ध-भाव से शैलेंद्र के मुख पर लोचन-युगल से नेह-नीर की वर्षा कर मानो आगत मूर्च्छा का भय दूर करने का प्रयत्न करने लगी। शैलेंद्र संज्ञा-हीन हो गए! शैलेंद्र आज जीवन के सुदूरस्थित लक्ष्य के पास पहुँचकर संसार से दूर बैठे हैं। सांसारिक विषयों में आज संज्ञा-हीन होकर प्रेम-मंदिर के नूतन कर्मचारी के पद पर प्रतिष्ठित हुए हैं।

सरला ने उपवन में एक अपूर्व माधुर्य का विकास किया; मालती-लता मानो एक बार ही विकसित हो उठी।

सरला बोली—"शैलेंद्र, अच्छे तो हो?"

शैलेंद्र के चेतना-हीन शरीर में सुधा-संचार हुआ; हृदय की मरु-भूमि में एक बार कादंबिनी का प्रादुर्भाव हुआ।

शैलेंद्र बोले—"हाँ! आपकी कृपा से अच्छा हूँ। आप तो अच्छी तरह हैं?"

सरला बोली—"मैं अपनी कुशल-क्षेम तो रात्रि ही में निवेदन कर चुकी हूँ।"

"रात्रि में मैं भी अपने अच्छे-बुरे की बात कह चुका हूँ।"

सरला थोड़ा मुस्किराई। मुस्किराकर बोली—"कहो, कभी

वहाँ शैल-शिखर पर मेरी भी याद आती थी ?" शैलेंद्र ने कहा—"ऐसा कौन समय होता है, जब तुम्हें मैं विस्मृत होता हूँ।" सरला ने कहा—"हाँ, तुम मुझे विस्मृत नहीं होते हो, किंतु मेरा भी स्मरण करते हो ?"

शैलेंद्र हार गए। सरला जीती। सरला बोली—"शैलेंद्र, तुम्हारे बिना संसार असार है।" शैलेंद्र ने कहा—"हाँ ठीक ! क्योंकि संसार के सार को कौन देखे।" इस बार सरला हारी, शैलेंद्र जीते। किंतु शैलेंद्र, क्या सरला के सरल हास्य से भी जीत सकते हो ?

अब शैलेंद्र खुले। सरला का कर-कमल हाथ में लेकर बोले—"सरले, सरले, तुम्हें नहीं मालूम, तुम्हारे बिना इस हृदय की क्या दशा रहती है !"

सरला बोली—"जानती हूँ, अग्नि प्रज्वलित रहती है।"

शैलेंद्र बोले—"क्या इसमें कभी प्रेम की कादंबिनी न बरसेगी ?"

सरला बोली—"शैलेंद्र, उन्मत्त न होओ। तुम जानते हो, इस प्रेम का पथ बड़ा कठिन है !"

शैलेंद्र सँभलकर बोले—"किंतु अप्राप्य तो नहीं।"

सरला बोली—"नहीं, किंतु प्राप्य है, केवल मरण के उपरांत।"

शैलेंद्र स्तब्ध हो गए। उन्हें मालूम होने लगा कि प्राची दिशा हँसकर कह रही है—"मरण के उपरांत।"

---

शैलेंद्र ने सुना, पक्षि-कुल गा रहा है—"मरण के उपरांत।"

दिशाओं से प्रतिध्वनि होती है—"मरण के उपरांत।"

तो क्या प्रेम, उन्माद और मरण एक ही पदार्थ हैं?

---

# प्रेम-पुष्पांजलि

## ( १ )

Some feelings are to mortals given
With less of earth in them than heaven.

— *Walter Scott*

एताश्चलद्वलयसंहतिमेखलोत्थ-
झंकारनूपुरपराजितराजहंस्यः ;
कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो
वित्रस्तमुग्धहरिणीसदृशैः कटाक्षैः ।

—श्रीभर्तृहरियोगीन्द्रस्य

तांत्रिक तंत्र में, मंत्र-शास्त्री मंत्र में, जन-साधारण प्रभुत्व में, योगी चित्त-वृत्ति-निरोध में और प्रेम-प्रभु का पुजारी कवि रूप में आकर्षण का निवास बताते हैं। तब इन सबसे अधिक प्राबल्य किसमें है ?

अन्य सबमें केवल आकर्षण है; रूप में आकर्षण और आत्मसमर्पण करा लेने की भी शक्ति है। हृदय-कंज आकृष्ट होकर हर्ष-पूर्वक, अपने अनुराग को प्रकट करके, अपने पराग से आराध्य देव के पाद-पद्म रंजित करता है। तंत्र, मंत्र और प्रभुत्व दासत्व-जनक हैं; योग चित्त-वृत्ति का अवरोधक है; रूप चित्त को सीमा-बद्ध करके चित्त-वृत्ति का प्रसारक है। योग भी अनंत के अनंत रूप में अपनी साधना का फल देखता है। रूप

भगवान् का प्रकाशमय स्वरूप है; इसी रूप पर आज तक असंख्य हृदय निछावर हो चुके। हृदय की गति हृदयेश तक है। और हृदयेश? हृदयेश तो सौंदर्य-सुधा के सिंधु हैं।

निर्बोध बालक हँसते हुए चंद्रदेव का वदन-मंडल देखता है; अज्ञान कोकिल निकुंज-भवन में मंजरी-समाच्छादित रसाल पर बैठी हुई रस-भरी कूक में ऋतुराज के सौंदर्य का अलाप अलापती है; जड़ तमाल मालती लता को, लावण्यमयी प्रेम-प्रतिमा प्रियतमा की भाँति, अपने वक्षःस्थल पर धारण करता है। मनुष्य यदि किसी सौंदर्य की देवी के पाद-पद्मों में हृदय-पद्म की अंजलि देकर आत्मसमर्पण कर दे, तो इसमें आश्चर्य क्या है?

सौंदर्य इंद्रजाल है। इसके प्रभाव से मनुष्य अपना प्रकृत वेश परित्याग करके अन्य वेश धारण करता है। कठोर हृदय वीर रूप के सम्मुख कोमल हृदय हो जाता है; महान् कृपण प्रियतमा के सौंदर्य पर सारा विभव लुटा देता है। सौंदर्य पर प्राण देने में तब क्या पाप है?

सोचते-सोचते रात्रि के आठ बज गए। आज दिन-भर वर्षा होती रही। कभी नन्ही-नन्ही बूँदें पड़ने लगतीं; कभी धारावाही जल गिरने लगता और कभी एकबारगी, वियोगी के अश्रु-प्रवाह की भाँति, कुछ देर को मेह बंद हो जाता था। समय का परिवर्तन सहसा होता है; श्याम घन के कृष्णावरण से निकलकर चंद्रदेव, चंद्रमुखी नायिका की भाँति, अंबर-प्रदेश में हँसने लगे। मैं

सोचने लगा—"जिस चंद्रकला को आज स्टेशन पर देखने जाना है, वह कौमुदी से कितनी अधिक कांतिमती है ?"

ट्रेन अर्धरात्रि के समय छूटती है; आज जिस 'रूप की देवी' के दर्शन को स्टेशन जाऊँगा, वह इस नगर की अलौकिक छवि को हरकर दूसरे नगर में प्रकाश प्रसारित करने को प्रस्थान करेगी। मैं नहीं जानता कि मुझे चंद्रकला पहचानती है या नहीं, किंतु मैंने उसको कई बार देखा है। अपूर्व सौंदर्य है, अलौकिक लावण्य है, स्वर्गीय प्रभा है। आज चंद्रकला अपनी ज्येष्ठा भगिनी कलावती के साथ जायगी। कहाँ ? सो पाठक-पाठिकाओ, आपको पूछने का अधिकार नहीं।

हृदय का उद्वेग वेग-पूर्वक बढ़ने लगा। मैं भाई से किन्हीं श्यामसुंदर-नामक मित्र के आने का बहाना करके अपने मूढ़ मन को बहलाने चला। सघन घन फिर आ-आकर नभ-प्रदेश में एकत्र होने लगे; चंद्रमा का चारु मुख फिर ढक गया। श्याम घन के अंक में दामिनी-कामिनी अपने अपरूप चांचल्य के साथ केलि करने लगी; रात्रि के घोर अंधकार में केवल वह दामिनी का चारु हास्य ही मुग्ध पथिक का एक-मात्र अवलंब है।

अभी मैं मार्ग ही में था कि पानी बरसने लगा। मेघ अधिक गर्जन करने लगे। विभावरी के घोर अंधकार में, पंक-पूर्ण मार्ग से होकर, हृदय की चिंता-सहचरी का साहचर्य पाकर, मैं स्टेशन के सामने चला।

सोचने लगा—"सौंदर्य की प्रबल सुरा में इतनी उन्मत्तता

क्यों ? सौंदर्य-दर्शन में भी क्या इस घोर तप की आवश्यकता है ।"

एक ओर पपीहा बोला—"पी कहाँ, पी कहाँ ।" मैंने मन में कहा—"पपीहा पी को पुकारता है । पी सुनता नहीं । तो क्या पुकारनेवाला निराश होकर प्राण दे देता है, अथवा उसकी करुण ध्वनि प्यारे के कर्ण-कुहरों में भी कभी प्रवेश करती है ?" वायु प्रबल वेग से बहने लगा; मुझे चिंता नहीं । वर्षा का वेग बढ़ा; हृदय की उत्कंठा बढ़ी । उस निर्जन पथ पर, तिमिराच्छादित यामिनी के द्वितीय प्रहर में, अपने हृदयाकाश के अंतिम छोर पर चमकते हुए उस एकाकी नक्षत्र को लक्ष्य बनाकर, मैं प्रकृति की विघ्न-बाधाओं को बाधा देकर बढ़ने लगा ।

स्टेशन अब दूर नहीं । पास ही एक लालटेन के क्षीण आलोक में घड़ी निकालकर देखा, नौ बजे हैं । सोचा, अभी ट्रेन में पूरे एक पहर की देर है । इतनी देर पहले आकर मैंने मूर्खता की; किंतु रूप तो मूर्ख बनाता ही है । तब क्या सौंदर्य हृदय और मस्तिष्क पर समान अधिकार रखता है ?

( २ )

जो मज़ा इंतज़ार में पाया ;
वह नहीं वस्ले-यार में पाया ।

—कस्यचित्कवेः

दो-तीन दिन पहले मुझे पता लगा था कि चंद्रकला अमुक तारीख़ को रात की ट्रेन से जायगी । चंद्रकला चाहे मुझे भली

भाँति न जानती हो, किंतु मैं उसका पता रखता हूँ। पाठक महाशय ! क्षमा करें। रूप की मंदाकिनी के प्रवाह में आज से नहीं, कई महीनों से पड़ा हुआ बहता चला जा रहा था।

सौंदर्य का पार्थिव वेश, नंदन-कानन के सौरभमय सुमन की भाँति, समस्त संसार को सुवासित करता है। कौन नहीं जानता कि जीवन-साहचर्य के लिये सुंदरता की कितनी आवश्यकता है।

स्टेशन पर आकर मैंने पहले ही यात्रियों के विश्राम-स्थान देखे। देखा, अभी चंद्रकला का उदय नहीं हु..ा। अब मैं अपने विश्राम-स्थल की खोज करने लगा।

पानी का वेग कुछ कम हो गया था; अलबेला बेला नहा-धोकर अपने इत्र से सारे स्टेशन को सुवासित कर रहा था। कई एक लताएँ, गैस के उज्ज्वल आलोक में चित्र-विचित्र-कुसुम-भूषिता होकर, अपने अपूर्व यौवन का परिचय दे रही थीं। स्टेशन की एक ओर एक पीले कनेर का तरु है। वृक्ष उस समय अपनी विभूति के सर्वोच्च शिखर पर था; उसकी कुसुम-संपत्ति अपार थी। बीच में आज वासंती रंग का बिछौना बिछा था। मैं उसी वृक्ष के नीचे बैठ गया। यद्यपि इस समय 'नन्ही-नन्ही बूँदों की फुहार' पड़ रही थी, किंतु विटपवर मुझे सुमन-तोयांजलि से परितृप्त करते रहे।

मैं सोचने लगा—"जीवन के घोर तम को विदीर्ण करने के लिये ही क्या सौंदर्य-सुधाकर की सृष्टि हुई है ? अमावस्या की भयभीत यामिनी में, जीवन-मंदाकिनी के भीषण प्रवाह में, कर्म-

मेघ की निरंतर जल-वृष्टि में, अतुल विघ्न-बाधाओं के सम्मुख सौंदर्य कितना सहाय होता है—रात्रि के पिछले पहर में, दीपक के क्षीण आलोक में, मरणोन्मुख व्यथित के लिये सौंदर्य कितना शांतिप्रद होता है, यह क्या कोई वर्णन कर सकता है ?"

एक घोड़ा-गाड़ी आई। उठकर देखा, किंतु निराशा ! मेरे मन में विचार उत्पन्न हुआ—"निराशा क्या आशा के मार्ग में व्याघात डालती है ? कभी-कभी तो उत्कट निराशा से प्रबल आशा का जन्म होता है।"

मैं फिर अपने विश्रामस्थल से उठा। इतने घोर अंधकार में भी गैस का दीपक, सकल विघ्नों को पद-दलित करता हुआ, अपने तीक्ष्ण प्रताप से अरि-कुल का नाश कर रहा था। 'रात्रौ वृक्षान्न कम्पयेत्' ऐसा शास्त्र का वचन है, किंतु तो भी मैंने थोड़े-से बेले के सौरभमय कुसुम तोड़ लिए। कुसुम की सुकुमारता, कुसुम की कमनीयता, कुसुम का लावण्य और कुसुम की सुवास चंद्रकला की सुकुमारता, कमनीयता, लावण्य और सुरभित श्वास की बराबरी कर सकते हैं या नहीं, मुझे इस विषय में अधिक अनुभव नहीं है।

मैं फिर थोड़ी देर फिरकर अपने विश्रामस्थल पर आकर बैठ गया। अब की बार सौंदर्य का उपासक संगीत अपने पद-झंकार से मोहित करने लगा। एक ओर से गाने की ध्वनि सुनाई दी; साथ ही बाँसुरी का मधुर रव भी कर्णगोचर हुआ। अपूर्व समय था। उस अंधकार को विदीर्ण करते हुए, सुरभित

समीर-लहरी में मिलकर संगीत-लहरी लहरें लेने लगी। मैं एकाग्रचित्त होकर सुनने लगा। सुनते-सुनते प्रतीत होने लगा, मानो हिमाचल के तुंग शिखर पर विहार करते समय मंदाकिनी और अंबालिका की मधुर नूपुर-ध्वनि से आज पृथ्वी-मंडल मुखरित हो रहा है। गान-लहरी क्रमशः बढ़ने लगी। तन्मय होकर उसी लहरी के स्वर में स्वर मिलाकर मैं भी धीरे-धीरे गाने लगा—

गान

कहहु कित आए प्रिय घनश्याम ;
मोहन मदन, मनोहर मूरति, सजल-जलद-अभिराम।
कुंज-कुंज बिच ढूँढ़ फिरी मैं, मिले न कहूँ मोहिं श्याम ;
आवहु मोहिं बचावहु प्यारे, नित मारत मोहि काम।
सून्यो सब सुख साजबाज अब, तज्यो चहत आराम ;
अब 'हृदयेश' देश तजि जैहै, नहिं घर सों कछु काम।

कितनी ही देर तक गाता रहा; वह संगीत-लहरी भी बंद हो गई। घड़ी में देखा १०½ बज चुके हैं। लाइनक्लीयर होनेवाला है; किंतु अभी चंद्रकला की गाड़ी का पता नहीं। सोचने लगा—"क्या आज ऐसे भीषण समय में चंद्रकला न जायगी ?" निराशा ने फिर आशा पर प्रभुत्व स्थापित किया। आशा फिर भी मलिन वेश में हृदय-देश के एक कोण में खड़ी होकर मेरी ओर देख-देखकर हँसने लगी। मैंने सोचा, अभी आशा में जीवन की ज्योति है।

लाइनक्लीयर हो गया; पैटमैन ने उस अंधकारमयी निशा में

घंटा-झंकार के साथ चिल्लाकर कहा—'गाड़ी छोड़ो'। मालूम हुआ, मुझे भी किसी ने छोड़ा; हृदय पर आघात हुआ, क्या आज भी भाग्य का उदय नहीं हुआ? आशा-कौमुदी पर फिर प्रहार होने चाहता है! हृदय को निर्बोध बालक की भाँति फिर बहलाया।

गाड़ी छूटने में अब केवल २० मिनट की देर है। इतने ही समय में आशा का विकास अथवा ह्रास हो जायगा।

क्या रजनी की तमसाच्छादित मूर्ति में आशा मुझे छोड़कर चली जायगी?

( ३ )

राधावदनविलोकनविकसितविविधविकारविभंगम्।
जलनिधिमिवविधुमंडलदर्शनतरलिततुंगतरंगम्।
हरिमेकरसं चिरमभिलषितविलासम्।
सा ददर्श गुरुहर्षवशंवदवदनमनंगविकासम्।

—महाकवि जयदेव

Give but a glimpse and Fancy draws
Whate'er the Grecian Venus was.

—*Edward Moore*

लीजिए! सिगनेल डाउन हो गया। मैंने हृदय में सोचा—"मायाविनी आशा का मधुर आश्वासन क्या अंतिम काल तक रहता है? आशा के अंत पर क्या अनंत का निवास है? आशा के संग में बड़ी मधुरता है; किंतु क्षार सागर में शेष का निवास क्या खटकता नहीं है?"

एक घोड़ा-गाड़ी का लैंप दूर ही से, रात्रि की घोर कालिमा के नाश का दुःसाहस करता हुआ, दृष्टिगत हुआ ; व्यथित कोकिल एकदम कूक उठी ; निराशा के चुंगल में फँसी हुई आशा फिर एक बार पिंजड़ा तोड़कर निकलने का प्रयत्न करने लगी।

तरुवर के नीचे से उसी क्षण उठकर मैं बाहर आया। गाड़ी को उतनी दूर चलने में ½ मिनट लगा होगा। मुझे मालूम हुआ, अब कलियुग का प्रथम चरण बीता।

गाड़ी आकर खड़ी हुई। पहले गाड़ी के अंदर से एक भव्य पुरुष निकला। संभवतः चंद्रकला इन्हीं की कोई संबंधिनी है। इनके बाद ही नौकर ने उतरकर क़ुलियों के सिर पर असबाब लादना शुरू किया। अब कलावती, षोडश शृंगार-कलाओं का विस्तार करती हुई, उस भीषण तम में भी प्रकाश का आभास कराती हुई, मत्त कल्लोलिनी की भाँति नूपुर-रव करती हुई, गाड़ी से नीचे उतरी। इसके उपरांत—पाठक-पाठिकाओ—इसके उपरांत संसार का सार, कांति की सीमा, मधुरता का अपूर्व विलास, सौंदर्य-कुसुम का पूर्ण प्रकाश और हृदय की मूर्तिमती कल्पना, विभावरी के सूचीभेद्य अंधकार-राशि में अनुपम विभा का विस्तार करती हुई, नंदन-तरु-कानन के कल्प-कुसुम की कमनीयता का परिहास करती हुई, मातंगिनी को मतवाली करती हुई, मरालमाला को पराजित करती हुई, जीवन के कंटक-पूर्ण मार्ग की आलोक-माला

की भाँति गाड़ी से नीचे उतरकर खड़ी हुई। मैं स्तब्ध हो गया। संभवतः एक मिनट-भर के लिये मैं संज्ञा-हीन हो गया।

चंद्रमा के स्वाभाविक प्रकाश पर गैस का प्रकाश पड़ा। शुभ्र सारी के अभ्यंतर से शीश-भूषण चमक उठा। चंद्रमा भीत होकर फिर श्यामघन के अंक में छिप गया। पानी फिर बरसने लगा।

नौकर ने जाकर बरामदे में असबाब रक्खा। वहीं पर एक थोड़ी-सी जगह में कल्पमंजरी के गुच्छ-युगल खड़े होकर उस शीतल समीर को सुवासित करने लगे। मेरा तरुवर बिलकुल निकट ही था। मैं वहाँ से, पल्लवों के अभ्यंतर से, अंधकार में बैठा हुआ उनकी रूप-प्रभा देख सकता था। मैं वहाँ बैठे-बैठे उस अपूर्व सौरभ को सूँघकर उन्मत्त हो उठा। रूप के अपरूप दर्शन से मैं एक बार ही अपना बहिर्ज्ञान खो बैठा। तब क्या बाह्यिक सौंदर्य भी अभ्यंतर की वस्तु है?

अब गाड़ी आने ही चाहती है; केवल ५ मिनट की देर है। अभी यमदूत की भाँति, मुख से अग्नि निकालती हुई, घोर कोलाहल करती हुई, पृथ्वी को कंपायमान करती हुई रेलगाड़ी अपनी भीमकाय मूर्ति से कोमल हृदयों को भीत करती हुई प्लेटफ़ार्म पर आ खड़ी होगी।

स्टेशन अब कोलाहल-पूर्ण हो उठा। दोनो सुंदरियाँ भी अपने-अपने विचलित वस्त्रों को उचित रीति से पहनने लगीं। उसी समय चंद्रकला के गले का सुवर्ण-मंडित पवित्र रुद्राक्ष

अपनी पावन प्रभा का प्रकाश प्रसारित करता हुआ हिल गया। मेरा हृदय भी कुछ अपने स्थान से हिल गया। मैंने सोचा, क्या पवित्र शैवी रुद्राक्ष शृंगार की रक्षा करने के लिय चंद्रकला के निकट रहता है? क्या नीलकंठ ने अपनी कंठमाला का परम-पावन रुद्राक्ष आज मूर्तिमती सुंदरता के कंठ में, प्रसाद-रूप में, पहना दिया है।

इस समय जन-समूह, सागर की तरंगमाला की भाँति, कभी इधर कभी उधर घूमता था। दोनों सुंदरियाँ भी अपने-अपने स्थान पर, माधवी एवं मालती की भाँति, दीवार के सहारे खड़ी हो गईं। दोनो चंद्रवदन शरत् के शुभ्र पयोधर में ढके हुए थे; किंतु उनका स्निग्ध प्रकाश किसी उत्कंठित प्रेमी चकोर के लिये उस समय अत्यंत सुखद था।

हिंदू-समाज की अबला-मंडली में लज्जा का प्रबल राज्य है; हिंदू-ललनाओं की प्रीति-मंदाकिनी सर्वदा लज्जा-कानन के अभ्यंतर ही में मधुर, परंतु शनैः-शनैः कलरव करती हुई, वेग के साथ, किंतु आवेग-रहित होकर, बहती है। यहाँ प्रीति-पुष्प इतना नहीं खिलता कि निर्बल होकर गिर पड़े; यहाँ का गुलाब खिलता है, परंतु खिलखिलाता नहीं है। कली फूल होती है, किंतु फूल का पल्लव कभी सूखता नहीं। दोनो सुंदरियाँ भी लज्जावती लता की भाँति एक ओर खड़ी थीं। कभी-कभी उनके अंग-विक्षेप से दामिनी चमक उठती थी।

मैं भी अपने स्थान से उठा। एक बड़ा झोंका आया। एक

बार जल की सहस्रों बूँदें कुसुम-कली के साथ मेरे ऊपर बरस पड़ीं। मैंने हँसकर तरुवर की अंतिम अभ्यर्थना सादर शीश पर ग्रहण की। चलते समय मैंने कहा—"विटपवर! जगदीश्वर तुम्हें और भी हरा-भरा करें। तुम्हारा माली सच्चे हृदय से सदा तुम्हारी सेवा करे। तुम सर्वदा कल्याण-शीतल जल पान करो।" वृक्षवर ने दो-चार कली और बूँदें फिर बरसाईं। एक ओर से कोई पक्षी मधुर स्वर में बोल उठा; मैंने समझा—संभवतः तरुवर ने भी समझा होगा—पक्षी कह रहा है—"तथास्तु"; मैंने फिर कहा—"तथास्तु।"

अब मैं उनके बिलकुल सम्मुख आ गया; वस्त्राच्छादित होने पर भी उनके अनिंद्य अंगावयव अपने अपूर्ण लावण्य से उद्भासित हो रहे थे। उसी समय एक ओर से, एक लतामंडप के अभ्यंतर से, एक पालित मयूर बोल उठा। चंद्रकला चौंक उठी; क्या उर्वशी को नंदन-कानन के पालित मयूर का ध्यान आ गया? आज क्या मयूर अपने श्यामघन के अंक-स्थित दामिनी को प्रसन्न कर रहा है?

समय हो गया!

असीम प्रेम और अनंत समय भी क्या सीमाबद्ध हो सकते हैं?

( ४ )

निखिल-आशा-आकांक्षामय दुःखे-सुखे
झाँप दिए तार तरंगपात धर्बो बूके।
मंद-भालोर आघात वेगे तोमार बूके झड़बे जेगे।

शुनबो वाणी विश्वजनेर कलरवे
प्राणेर रथे बाहिर होते पार्बो कबे ।

—रवींद्र कवींद्र

Though woe be heavy; yet it seldom sleeps :
And they that watch see time how it creeps.

—*Shakespeare*

विस्तृत क्षेत्र में प्रवाहित होनेवाली कल्लोलिनी की भाँति समय शनैः-शनैः गमन करता है, किंतु मनुष्य को अपनी गति के अनुसार उसकी गति प्रतीत होती है। कौन नहीं जानता कि सुख के दिन शीघ्र कट जाते हैं, और दुःख के क्षण कल्प-काल के तुल्य प्रतीत होते हैं ?

रेलगाड़ी, मेघ-गर्जन का अनुकरण करती हुई, आ खड़ी हुई। अब जन-कोलाहल, समुद्र की फेनाकुल तरंग-माला की तरह, सारे प्लेटफ़ार्म पर फैल गया। कोई क़ुली को पुकारता है; कोई किसी से झगड़ा करता है। फल, मिठाई आदि के विक्रेता क्रेतागण से बहस कर रहे हैं।

मैंने सोचा—"संसार की शांति क्या इसी भाँति क्षण-भंगुर है ?"

चंद्रकला और कलावती उन भद्र सज्जन के साथ चलीं। नौकर ने क़ुलियों के साथ जाकर एक इंटर-क्लास में सामान रखवाया। चंद्रकला आदि भी उसी ओर बढ़ीं।

मैं चंद्रकला से कुछ दूर पर चलने लगा। सोचने लगा, कैसी अपूर्व गति है; क्या मंजुल मरालिनी और मत्त मातंगिनी की

गति-विधि अपने पूर्व-पुण्य को मिलाकर भी इसकी समता कर सकती हैं ? उसके पाद-विक्षेप पर किसके हृदय में विक्षेप नहीं होता ? कविता और कामिनी का अपूर्व साम्य भी क्या इसीलिये है ?

गाड़ी पर चढ़ने के समय कर-कमल के एक सुकुमार पल्लव में मुँदरी दिखाई दी ; नक्षत्र की ज्योति की भाँति उसके मध्य का रत्न चमक रहा था। मुँदरी भी चंद्र-कला की कला की भाँति कल्पनातीत कमनीयता की कली थी। आज पल्लव और कली का अपूर्व सहवास है ? कल्प-पल्लव और कल्प-कली दोनो ही तो अभीष्ट-प्रद हैं ?

गाड़ी पर दोनो बहनें बैठ गईं। बिजली की आभा और भी अधिक चमक उठी। दोनो ने लैंप की ओर देखा। बिजली की किरणमाला कामिनीद्वय के मुखमंडल पर पड़कर उनके शीश-भूषण और कर्ण-भूषणों से केलि करने लगी। मैं भी देखने लगा। उस अपूर्व त्रिवेणी में मैं "जय-जय सुंदरते !" कहकर अवगाहन करने लगा। आश्चर्य की बात है, आज आँखों से अमृत पीकर मैं परम प्रसन्न हुआ।

गाड़ी छूटने का समय आ रहा है। तीन मिनट और शेष हैं। क्या तीन मिनट के उपरांत यह गैस की आभा होने पर भी प्लेटफ़ार्म पर अँधेरा हो जायगा ? कौन आश्चर्य है, सूर्य भगवान् के होने पर भी कितनों के हृदयागार सर्वदा कालिमा-परिपूर्ण रहते हैं। एकटक देख रहा था; उनके साथ के भद्र

सज्जन महाशय पास से होकर चले गए। मैंने सोचा, क्या मेरी धृष्टता इन्होंने पहचान ली ? मैं वहाँ से दूसरी ओर हट गया। हटकर वहाँ से सुधांशु की सुधा पीने लगा।

पानी वेग से पड़ने लगा। सब जन-समूह गाड़ी के अंदर बैठ गया। उस निर्जन प्लेटफ़ार्म पर केवल मैं उस दूर-स्थित ललना की लावण्य-लहरी में लहरें ले रहा था। मेरे सब वस्त्र भीग गए थे; पर मुझे इसकी चिंता नहीं। सीटी हुई। गार्ड ने हरी लालटैन दिखाई। गाड़ी ने सीटी दी। हृदय भी एक बार स्तंभित हो गया। क्या सीटी में कोई वज्र निहित है ? मेघ के गर्जन में तो इंद्र का आयुध अवश्य रहता है।

गाड़ी चल दी; मन की गति भी उसी के साथ चली। मन की मणि चली; मन भी चला। जीवन की विभूति चली; जीवन की अभिलाषा भी संग गई।

मैं अपने को न रोक सका; मैंने गाड़ी के पास पहुँचकर सौरभ-मय बेला के फूलों की अंजलि गाड़ी के पास छोड़ दी। अकारण ही मुख से निकल गया—"राजराजेश्वरी भगवती कल्याण-सुंदरी की जय।"

मालूम नहीं, उन्होंने सुना या नहीं। भद्र सज्जन मेरे विषय में जान पाए या नहीं, सो जगदीश्वर जाने।

गाड़ी चल दी। उसी समय पानी का वेग और भी बढ़ा। हृदय भी आवेग के प्रबल वेग में बोला—"क्या यह अंजलि व्यर्थ जायगी ?"

उसी समय एक विहंग बोला; मैं उस दैव-वाणी का अर्थ न समझा।

मैं स्थिर दृष्टि से दूर तक रेल को लाल-लाल आँखें देखा किया। मेरी अंजलि से उनकी आँखों में रोष की लालिमा अथवा अनुराग की रक्तिमा, दोनों में से किसका प्रादुर्भाव हुआ होगा, सो क्या पाठक-पाठिकाएँ बता सकते हैं ?

मैं गाते हुए, भीगते हुए और सोचते हुए घर को लौटा। रात को कई बार उठ-उठकर यह गान गाया—

कबहुँ तोहिं भूलि सकहुँ घनश्याम;
एक बार पेखत हिय वारयो, जन तन मन धन धाम।
अब की मिलहु मूँदि करि राखौं, लोचन बीच ललाम;
मिलिहौ कबहुँ काहु दिन पावन, हुलसावन अभिराम।
तब लौं जपि तुव नाम निरय ही, तजिहौं सब गृह-काम;
लाज-काज परिहास हास तजि, तजिहौं गोकुल ग्राम।

## प्रणय-परिपाटी

"The positive collects on this side and the negative on the opposite side, then the force becomes perfect."

—SWAMI RAM

कुसुम में कंटक, कलाधर में कलंक, हीरक में हलाहल, विद्युत् में वज्र, मंदाकिनी में मकर, इसी प्रकार संसार की समस्त सौंदर्यमयी वस्तुओं में विपरीत तत्त्व का सम्मिश्रण होता है। प्रजापति और कवि की सृष्टि में इस प्रकार के अनंत उदाहरणों की कमी नहीं। उदाहरण ही क्यों ? यदि विचार-पूर्वक सूक्ष्म दृष्टि से देखें, तो इस महान् नियम का परिचय हमें प्रत्येक वस्तु में परिलक्षित होगा।

कवि की कमनीय सृष्टि में कुसुम-कलेवरा कामिनी के कटाक्ष कठिन कृपाण को परास्त करते हैं; प्रजापति की सृष्टि में सुमन-मंडित मालती-मंडप में भीषण मणिधर का निवास होता है। प्रेम को मुग्ध बनानेवाली मंदाकिनी में कवि की प्रज्ञा मुग्ध होकर डूब जाती है; अनंत तरंगमयी कल्लोलिनी के भयानक प्रवाह में प्रजापति की अनंत प्रजा, रोमांचकारी चीत्कार करती हुई, रसातलगामिनी होती है। प्रश्न यह है कि कवि की सृष्टि में और प्रजापति की पृथ्वी में कुछ अंतर है या नहीं ? इन दोनो में कुछ रहस्य है या नहीं ?

हाँ, अंतर है; दोनो में अपूर्व रहस्य है। जिस महान् नियम के आदेश का पालन करने को विश्व सर्वदा नत-शिर रहता है, जिस महान् नियम की महामहिमा के सम्मुख अंबर-चुंबी हिमाचल, अनंत रत्नाकर, प्रचंड अनिल एवं घनघोर मेघ-मंडल भी पराहत हो जाते हैं।

कवि उसी महान् नियम को वशीभूत करने के लिये उससे अधिक शक्ति-संपन्न नियम का आश्रय लेता है। प्रजापति को पृथ्वी का जो प्रभु है, वह कवि की सृष्टि का दास है। जो पृथ्वी का आदेश-कर्ता है, वह कवि की सृष्टि का आज्ञानुकारी है।

इस विशाल विश्व में, जो असंभव प्रतीत होता है, अर्थात् जो प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है, वही कवि के साम्राज्य में संभव है, अर्थात् प्रकृति के अनुकूल है। कारण, कवि के साम्राज्य के अधीश्वर की प्रकृति सहगामिनी है; कवि के महान् नियम की स्वयं उद्घोष-कर्त्री है। कवि का महान् नियम प्रेम है; कवि की सृष्टि के राजराजेश्वर स्वयं परमपुरुष हैं; और राजराजेश्वरी श्रीमहामाया प्रकृतिदेवी है। इस विशाल विश्व के अधीश्वर प्रजापति के भी प्रजापति हैं; इस विस्तृत ब्रह्मांड के अंतर्गत जगत्-जैसे असंख्य लोक हैं।

यह कवि की कल्पना नहीं; प्रत्यक्ष-सिद्ध है। न्याय-शास्त्री

महाशय भले ही अनुमान को प्रत्यक्ष की अपेक्षा अधिक तर्क-संगत मानें, किंतु कवि की सृष्टि में प्रत्यक्ष के उपरांत अनुमान की सृष्टि है। अर्थात् मान के उपरांत अनुमान की उत्पत्ति है। आप जिसे अनुमान समझते हैं, कवि उसे हृदय के अभ्यंतर में प्रत्यक्ष देखता है। कवि की कल्पना त्रैलोक्य-विहारिणी होती है। वह त्रैलोक्य के चित्र लाकर चित्र-लेखा की भाँति, कवि के हृदय में, उसके आंतरिक लोचन-युगल के सम्मुख, अंकित करती है। कवि उन्हें देखता है। हृदय के आवेग में कभी रो देता है; कभी हँस देता है; कभी क्रोधित हो जाता है; कभी आत्म-विस्मृत हो जाता है; कभी उन्मत्त हो जाता है। और, यही विभिन्न-भाव-मंडली, विभिन्न रसों की धारा के रूप में, विश्व-साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में, भाषा एवं भाव के सघन निकुंज-वन में बहती हुई, प्राणिमात्र को परितृप्त करती है।

अस्तु, तो क्या विपरीत-तत्त्व-सम्मिश्रण का महान् नियम प्रेम की सृष्टि में भी है? क्या इस अलौकिक लोक में भी सुधा-लहरी के साथ विष-लहरी का संगम होता है?

पाठक! उन्मत्त की बक-झक को क्षमा करना। मैं अपनी दुःख-कहानी आपको सुनाने चला हूँ—

फ़ुग़ाँ में, आह में, फ़रयाद में, शेवन में, नालों में;
सुनाऊँ दर्दे-दिल ताक़त अगर हो सुननेवालों में।

अतः अभी से उकता न जाना; यह तो मेरी कहानी की

भूमिका है। आजकल के लेखकों ने भूमिका का लिखना अनिवार्य माना है।

हाँ, तो प्रेम में भी दो विपरीत तत्त्व हैं—संयोग और वियोग। वियोग संयोग का सोपान है; अनंत आनंदमयी प्रतिमा के सन्निकट पहुँचने का दुष्कर, किंतु अनिवार्य मार्ग है; प्रेम को परिपक्व करने का कठिन साधन है; प्रेम और लालसा के भेद को पहचानने का सुगम उपाय है।

वियोग आत्म-त्याग का प्रत्यक्ष उदाहरण है; वियोग ही में स्वार्थ-त्याग का उत्कृष्ट आदर्श दृष्टि-गोचर होता है। अतः मानना पड़ेगा कि विपरीत तत्त्वों का सम्मिश्रण एक दूसरे को अनुकूल बनाने के लिये है, प्रतिकूल बनाने के लिये नहीं। हँसमुख चंचल बालक की धूलि-धूसरित देह, कमनीय कलाधर का कलंक, अमूल्य मणि का मणिधर के संग सह-वास, रसातल में मुक्ताफल का निवास, कामिनी के कृपाण-विनिंदक कठिन कटाक्ष इत्यादि एक दूसरे के सहायक हैं, वैरी नहीं।

पाठक-पाठिकाओ! मेरी कहानी में विपरीत तत्त्व का मिलान है। एक ओर से प्रेम की पुष्पांजलि समर्पण की जाती है, तो वह दूसरी ओर से कुसुम-कोमल पाद-पंकज से ठुकरा दी जाती है। एक ओर से सतृष्ण नयनों से देखने की चाह है, तो दूसरी ओर से वातायन के पीछे मुख-चंद्र छिपा

लेने की परिपाटी है। एक ओर स्वार्थ-त्याग है, तो दूसरी ओर उदासीनता है। एक ओर दास-भाव है, तो दूसरी ओर अपूर्व अंदाज़ है। एक ओर विनय है, तो दूसरी ओर तिरस्कार है। एक ओर अनुराग है, तो दूसरी ओर विद्रूप है। जो कुछ है, वह आपके सम्मुख है।

( २ )

"या तत्र स्याद्युवतिविषये
सृष्टिराद्येव धातुः।"

—कालिदासस्य

When out of bed my love doth spring,
'T is but days a kindling,
But when She's up and fully dressed
'T is then broad day throughout the East.

—*Herrick*

मेरे गृह के समीप ही भगवान् भूतभावन का एक मनोहर मंदिर है। उसमें भगवान् की मनोहारिणी मूर्ति, अपनी दिव्य ज्योति से घोर तम का विनाश करके, अपूर्व सतोगुण का विस्तार करती है। ललाट-स्थित त्रिपुंड के ऊपर बाल-मयंक की वक्र कला, जटा-वाहिनी मंदाकिनी के निपतित शीश-भूषण की भाँति, अत्यंत शोभा का विस्तार करती है। कैसा पावन दृश्य है! अंक-स्थिता जगज्जननी अंबालिका मानो भगवान् के भोलेपन पर हँस रही हैं। राजराजेश्वरी गिरिराज-किशोरी और मनोहारिणी महारानी मंदाकिनी दोनो मिलकर योगीश्वर

के साथ परिहास करती हैं। कौन जाने, इस सौंदर्य में कितना प्रभाव है! इसकी कितनी महिमा है!

मंदिर के समीप एक छोटा-सा उपवन है। छोटा-सा होने पर भी अत्यंत मनोहर है। वहाँ के कुसुम-तरुगण गर्व से उन्मत्त हो रहे हैं। कारण, उनकी पुष्प-संपत्ति भगवान् कैलासाधिपति को समर्पित होती है। कई एक लताएँ, सुमन-भूषिता होकर, पति-पादप के अंक में, कुसुम-शर से विद्ध-हृदया होकर, शनैः-शनैः परिहास करती हैं। कभी उनका पल्लवांचल भ्रष्ट हो जाता है, तो दूसरे ही क्षण लज्जा के कारण अधोमुखी होकर अपने आंतरिक अनुराग को अव्यक्त वाणी में प्रकट करती हैं। कर-संचालन द्वारा परिरंभण का निषेध करती हुई भी नवेली बेली, मुग्धा नायिका की भाँति, नयनों द्वारा अनुमोदन करती हैं। इसीलिये तो प्रकृति के सौंदर्य का उपासक कवि हँसकर कहता है—"नवाङ्गनानां नव एव पन्थाः।"

एक ओर चार या पाँच कदली-वृक्ष हैं। उनके बीच में से कभी-कभी प्रातःकालीन समीर अठखेलियाँ करती हुई डोलती है। उस समय ज्ञात होता है, मानो उनके विशाल पत्र-पाणि संचलित होकर किसी परिहासमयी प्रेमिका को पास बुलाने का प्रयास करते हैं। पास ही एक कूप है। कोटि-कोटि प्राणियों के उपकार-साधन के उपलक्ष्य में महाकवियों ने उसे अपनी अन्योक्तियों में अन्यतम स्थान दिया है। "जलधाराप्रियः शिवः" इत्यादि पवित्र वचन उच्चारण करते हुए सहस्र-सहस्र भक्तगण इस

पावन कूप के विमल सलिल को भगवान् की अनंत पन्नग-परिवेष्टित विशाल मूर्ति पर चढ़ाते हैं। भगवान् की विभूतिमयी देह और त्रैलोक्य-पावन-कर्त्री मंदाकिनी के पवित्र सलिल का देव-दुर्लभ संसर्ग प्राप्त करके, उस जल की विंदुमाला, त्रुटित हारावली की निपतित मुक्ता-राशि की भाँति, धरित्रीतल पर गिरती है। "हर हर शिव" की पवित्र लहरी के साथ भक्तगण उसे शीश पर चढ़ाकर निर्वाण-पद प्राप्त करते हैं।

पाठकगण! जिस पवित्र एवं प्रसिद्ध कुल में मेरा जन्म हुआ है, वह सदा ही से श्रीविश्वेश्वर के चरणारविंदों में अपने हृदय-कंज और प्रेम-रस की सुमन-तोयांजलि समर्पण करता रहा है। स्वभावतः ही काशी-विश्वनाथ में मेरी अविचल भक्ति है, और इसी कारण मैं नित्य-प्रति ब्राह्म मुहूर्त में प्राची दिशा के सौभाग्योदय से कुछ पूर्व इस मंदिर में भगवान् का पूजन करने जाता हूँ। उसी पावन कूप-सलिल से स्नान करके, समीपवर्ती उपवन से पुष्प चयन करके "चन्द्र-शेखर, चन्द्रशेखर, चन्द्रशेखर, पाहि माम्" की आमोदमयी स्वर-लहरी में अपने हृदय का अवगाहन कराते हुए, जग-दीश का पूजन करता हूँ। सर्वदा भगवान् के पाद-पद्मों में मेरी ऐसी ही दृढ़ मति एवं पवित्र रति रहे, यही मेरी आंतरिक कामना है। जो मेरे धर्म के अनुयायी पाठक हैं, उनसे मैं अनु-रोध करता हूँ कि एक बार अंतर से कहें—"तथास्तु।"

मंदिर के समीपवर्ती एक गृह है ; गृह के उच्च प्रकोष्ठ पर

एक वातायन है ; मंदिर के सम्मुख खड़ा होकर हरएक उसको भली भाँति देख सकता है। नैयायिकों के मत से प्रत्येक कार्य का कारण होना अत्यंत आवश्यक है, किंतु अज्ञानतः अथवा किसी 'न्याय-निर्धारित' कारण से उस वातायन की ओर मेरे चंचल नयन उठ जाते थे। भगवती भारती के वर पुत्र श्रीभव-भूति कहते हैं—

"यथेन्दावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदिनी
तथैवास्मिन् दृष्टिर्मम ............।"

मैं भी कहता हूँ, हृदय को अकारण ही वह वातायन सुखद होता था, और भविष्य में किसी अपूर्व आनंद का प्रवर्तक प्रतीत होता था।

इसी प्रकार बहुत समय बीत गया। निर्विकार दान की भाँति अनंत समय बीतते हुए भी असमाप्त ही रहता है।

जीवन की कल्लोलिनी विधि के विधान से विविध गति में बहती है। कभी वक्र-गामिनी है, तो कभी समतल-वाहिनी है। कभी धारावाही मेघ-मंडल से अत्यधिक जल को पाकर उन्मा-दिनी हो उठती है, तो कभी शरद् के पूर्ण सुधाकर की सुधा-धारा में, विमल वेश बनाकर, हृदय की वीणा बजाती हुई, कूल-स्थित तरुगण की कुसुम-संपत्ति से अपने कमनीय कलेवर को मंडित करती हुई, पुष्प-पराग में अनुराग मिलाकर अपूर्व सौरभ का प्रसार करती हुई, मंद मलयानिल की मधुर लहरी में कंठ-राग मिलाती हुई, सुधा-सिंधु की सेवा में शुक्लाभिसारिका की भाँति

चली जाती है। यह क्या है ? ऐसा क्यों होता है ? इसमें कौन-सा रहस्य है ? इसकी मीमांसा मैं मीमांसा-शास्त्रज्ञों के ऊपर छोड़ता हूँ।

प्रातःकाल का समय था ; प्राची दिशा में स्थित नक्षत्रगण पलायन कर चुके थे। अन्य दिशाओं की भी नक्षत्रावली सागर के अनंत गर्भ में निपतित होने लगी थी। वियोगिनी नायिका के पांडु मुख के समान, शिशिर-मथिता कुमुदिनी के समान, शत्रु-गृहीता राज्य-लक्ष्मी के समान, गलित-यौवना सुंदरी के वदन-मंडल के समान, नक्षत्र-रहिता एवं छत्र-विहीना यामिनी के सौभाग्य-बिंदु के समान, चंद्रदेव पृथ्वी-मंडल की ओर अश्रु-पूर्ण लोचन से दृष्टि-विक्षेप करते हुए पश्चिम की ओर परिश्रांत होकर पतित हो रहे थे। इधर प्राची दिशा के सौभाग्यदाता, कालिमा के अजेय शत्रु, प्रभा के प्रवर्धक भगवान् भास्कर की आगमन-वार्ता सुनकर पक्षि-कुल मधुर संगीत द्वारा, कुसुम-कली की चटक-ध्वनि के मिस हास्य द्वारा, मंद मलयानिल के मनो-मुग्धकारी मकरंद द्वारा, अपना-अपना आंतरिक आमोद प्रकट करने लगे थे। पाठकगण, संसार का यही नियम है। जब एक राजरानी के दिव्याभूषण-भूषित उन्नत मस्तक पर राज्यारोहण के समय अनेक पावन तीर्थों का पवित्र जल ब्रह्मकुल के स्तुति-वाचन के साथ पतित होता है, ठीक उसी समय एक ऐश्वर्य-शालिनी महारानी, अपने प्राणाधिक प्रिय प्रियतम की मृतक देह को अपने कोमल अंकस्थल में स्थापित करके चिता की अनल-

शिखा द्वारा स्वर्गारोहण करती है। चंद्र की चंद्रिका को बहिष्कृत कर रहे प्रभाकर की प्रभा उस समय अंबर और मृत्युलोक की महारानी के पद पर आसीन हो रही थी।

अकारण ही वातायन की ओर दृष्टि गई। वहाँ जो देखा, वह अपूर्व दृश्य था। मैं कुछ समय के लिये संज्ञा-विहीन हो गया। अनिमेष-लोचन होकर ऊपर की ओर देखने लगा। जिसे देखते ही मैं अनिमेष-लोचन हो गया, वह अवश्य ही कोई महती शक्ति थी।

बड़भागी लोचन-युगल ने देखा—वातायन की देहली पर युगल कर-कंज स्थापित करके एक अनिंद्य सुषमामयी रमणी अपने कटि-पर्यंत कमनीय कलेवर को बाहर निकालकर मंदिर की ओर देख रही है। उसके कलित कुंतल-कलाप अधिकतर पृष्ठ-भाग पर पड़े थे, और कुछ कपोल-युगल के इतस्ततः लटक रहे थे। ज्ञात होता था, आज मानो दूसरा वारिधि-बंधु, पराजित सुधाकर का पक्ष लेकर, नाग-सैन्य का नायक बनकर, पन्नग-महारथियों से मंडलीभूत होकर, कटाक्ष की कठिन कृपाण धारण करके, भृकुटी-कोदंड पर नयन-शर चढ़ाकर, अंबर-प्रदेश के रणांगण में, अमोघ दिव्य सौंदर्य-वर्म परिधान करके, युद्ध के लिये परिकरबद्ध हुआ है। अंबर विजित होगा, संसार सेवक बनेगा, रसातल पादतल में लुंठित होगा। जिसकी प्रकृति पोषिका है, सौंदर्य सहाय है, सम्मोहन सेवक है, आकर्षण

अनुचर है, वशीकरण पार्श्वचर है, मारण जिसका छत्रधर है, वह यदि त्रैलोक्य की विजय-लक्ष्मी को प्राप्त कर ले, तो आश्चर्य क्या है ?

मैंने देखा—आज रसातलवासिनी नाग-किशोरियों के साथ सौंदर्य-सागर का सुपुत्र सुधाकर वातायन से झाँक रहा है। सुधा और विष का अपूर्व मिलन है; कलित कालिंदी और मंद मंदाकिनी का मनोहर संगम है।

पाठकगण, मैंने देखा—रूप-रत्नाकर का अमूल्य रत्न, अंधकारमय पथ का उज्ज्वल आलोक, हृदयाकाश का प्रकाशमय नक्षत्र, जीवन का सुदूरवर्ती लक्ष्य और परम प्रीति का पूर्ण पात्र !

मैंने देखा—अपने हृदय की आराध्या देवी को, पारिजात की प्रसून-कली को, पुण्य-पुंज की प्राणमयी प्रतिमा को, मूर्तिमती वसंत-लक्ष्मी को और कांति के जीवित कलेवर को !

मैंने देखा—भगवान् की प्रकाशमयी आभा को, सौंदर्य की शरीर-धारिणी शोभा को, लोचन की सौभाग्य-लता को, कवि की कलित-कलेवरा कल्पना-कामिनी को और शृंगार-सदन की राजराजेश्वरी भगवती कल्याण-सुंदरी को !

मैंने देखा—मानस की मरालिनी को, राग-रस-रूप की त्रिवेणी को, पद्माकर की प्रफुल्ल पद्मिनी को, शरदिंदु की जीवधारिणी कौमुदी को और नंदन-वन की सौरभमयी कनक-लता को।

पाठक-पाठिकाओ, देखकर कुछ काल के लिये मैं मुग्ध हो गया।

धीरे-धीरे चैतन्य हुआ, लोचन पर लोचन गए, एकदम ही वातायन का कपाट रुद्ध हो गया। मुझे ज्ञात हुआ, मेरा हृदय भी अवरुद्ध हो गया। आज भगवान् को साक्षी देकर मैंने हृदय समर्पण कर दिया। अब क्या मैं उसे लौटा सकता हूँ ?

कहा है—"क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके पतन्ति"—सो वही नंदन-विहारिणी अमर-कन्या क्या भूतल पर आई है ?

मैं मंदिर में गया; पूजन किया। भगवान् के पाद-पद्मों में सिर रखकर कहा—"अंतर्यामी ! जिस विकट मार्ग में पग दिया है, उसकी परीक्षा में मुझे उत्तीर्ण करना।"

पूजन समाप्त करके घर गया। दिन-भर वही प्रसन्न मुख-पंकज मेरे लोचन के सम्मुख रहा। वही चिंता ! वही भावना !

प्रेम और तन्मयी साधना क्या एक ही वस्तु हैं।

( ३ )

चार दिके सुधा भरा
व्याकुल श्यामल धरा
काँदायरे अनुरागे
देखा नाई पाई,
व्यथा पाई,
से ओ मने भालो लागे।

—रवींद्र

इस इनकिसार पर तेरे सहता हूँ क्या सितम ;
फिर भी यह है दुआ मेरा ऐसा नसीब हो ।

—दूलह

अनंत जल-राशि के निरंतर प्रवाह की भाँति, अनंत काल, अपने वक्षःस्थल पर असंख्य घटनाओं को धारण करके किसी को स्मृति-शेष बनाकर, किसी को इतिहास के पृष्ठ पर अंकित करके, और किसी को चिर-विस्मृति की कंदराओं में छोड़कर, अव्यर्थ एवं अनवरुद्ध गति से अनंत की ओर प्रवाहित होता है। किन्हीं की कीर्ति-कलाप का कलकल द्वारा व्यक्त करता हुआ, किन्हीं के स्मृति-स्तंभ को भूमिसात् करता हुआ, किन्हीं की निंदा का प्रक्षालन करता हुआ, किन्हीं के सुनाम में कालिमा-पंक पोतता हुआ, कालसिंधु, कभी मंद गति से, कभी अत्यंत वेग से, कभी मनोहर रंग-रूपी लहरी के साथ, कभी भयानक एवं विकट चीत्कार के साथ, कभी भूमि पर, कभी पर्वतमयी पृथ्वी पर बहता हुआ, अज्ञेय अंबु-राशि की ओर अग्रसर होता है। पाठकवर्ग, इसका अंत कहाँ है ? अनंत में ! और अनंत का ? वह तो अनंत ही है।

दिवस का अवसान हुआ ; रात्रि का अंत हुआ। इसी प्रकार एक दिन, दो दिन, एक मास, छ मास, एक वर्ष बीत गया। एक गया, दूसरा उसके स्थानापन्न हुआ। इसी बीच कई बार वातायन में सुधाकर का उदय हुआ, और कई बार निमिष-मात्र के लिये उसने लोचन-चकोरों को कृतार्थ किया। उसको

कई बार देखा, किंतु प्रत्येक बार एक नूतन भाव देखा ; हर समय एक नया सौंदर्य देखा ; जब देखा, तब कुछ-न-कुछ अनोखापन देखा।

धीरे-धीरे मैं उनका समाचार लेने लगा ; मैंने उनके नौकर से बातचीत करना आरंभ किया। कई बार सोचा—"यदि मैं उनका अनुचर होता ? कदाचित् मुझे उनका सहचर बनने का सौभाग्य प्राप्त होता ?"

वह भी जान गईं कि मुझे कोई जानता है।

धीरे-धीरे प्रथम दर्शनरूपी बीज से अंकुरित होकर, अश्रु-सलिल से परिवर्द्धित होकर, शाखा-प्रशाखाओं में विस्तृत होकर, प्रेम-पादप हृदय-वृत्तियों को छाया-सुख देने लगा। भगवन् ! कहीं अकाल ही में प्रबल ग्रीष्म की विकट वायु इसे पुष्प-पल्लव-विहीन न कर दे ?

मेरे घर से लगा हुआ उनकी एक बहनेली का घर था। वह कभी-कभी वहाँ आती थीं, और उनका कोमल स्वर मेरे कर्ण-कुहरों में सुधा-धारा बरसाता था। एक बार सुना—"देखो जी ! तुम्हारे पड़ोसी महाशय बड़े ढीठ हैं।" उनकी बहनेली ने पूछा—"क्यों ?" कुछ रोष-भरे शब्दों में कहा—"यों ही।"

[ पाठकों के सुबीते के लिये हम उनका नाम मालती रक्खे लेते हैं, और उनकी बहनेली का माधवी। ]

माधवी ने हँसकर कहा—"अजी राजरानी ! कुछ तो कहिए।" राजरानी मालती बोली—"अजी ! वह हमें देखते

है।" माधवी ने खिलखिलाकर कहा—"तुम भी उन्हें देखा करो।" मैंने अपने मन में कहा—"माधवी ! इस अकारण सिफ़ारिश के लिये अनेक-अनेक साधुवाद।"

मालती संभवतः रुष्ट हो गईं; भगवान् जाने माधवी ने उन्हें कैसे मनाया ?

❀ ❀ ❀

इस घटना को भी अनेक दिवस व्यतीत हो गए। एक दिन तृतीय प्रहर के समय, जब सूर्यदेव पश्चिम-गमन की ओर पिशाचिनी रजनी के भय से शीघ्रता-पूर्वक पलायन कररहे थे, मैंने घर में जाकर देखा, पासवाली छत पर भुवन-मोहिनी तीन ललनाएँ अठखेलियाँ कर रही हैं। वे तीनो मुझे देख लज्जा से कुछ पीछे हट गईं।

पाठक, उनमें से एक मालती, दूसरी उनकी ज्येष्ठा भगिनी वासंती और तीसरी उनकी सहेली माधवी थी। आज इस मोहिनीत्रयी से निस्तार नहीं।

वासंती उन सबमें ज्येष्ठा थीं। नीचे की ओर देखकर उन्होंने मेरी भ्रातृवधू से कहा—"कहो जी, अच्छी तो हो ?" मेरी भ्रातृवधू ने कहा—"हाँ, अच्छी हूँ ! आप तो अच्छी हैं ? मालती, तुम अच्छी हो ?"

मेरा हृदय धड़कने लगा; उस कोकिलकंठी का मधुर रव सुनने को हृदय एकदम व्यग्र हो उठा।

मुझे ज्ञात हुआ, वीणा-ध्वनि हुई; मालती-मंडप के रसाल-

वृक्ष पर बैठी हुई कोकिला बोली; आकाश से मंदाकिनी मानो शंकर-मौलि-मंडप में पतित हुई। ध्वनि हुई—"अच्छी हूँ।" मुझे प्रतीत हुआ, प्रकृति ने कहा—"अच्छी हूँ।" इस कोमल शब्द ने हृदय-तंत्री पर आघात किया—उत्तर मिला—"अच्छी हूँ।"

मालती वासंती के पीछे एक शुभ्र सारी परिधान किए हुए, स्त्री-सुलभ लज्जा के कारण कुछ सकुची हुई खड़ी थी। ज्ञात होता था, शरद् के शुभ्र पयोधर-पुंज के अभ्यंतर से पूर्ण शशि मंद हास्य कर रहा था। मेरी भ्रातृजाया बोली—"मालती! आज बोलती क्यों नहीं? यह अपना चाँद-सा मुखड़ा नेक इधर तो करो?" मुझसे न रहा गया, मैंने कहा—"भौजी! तुम्हें उपमा भी न दे आई; यह मुख तो अनुपमेय है।" भौजी बोली—"मुझे इतनी बुद्धि कहाँ।" ऊपर से वासंती गुलाब-कली की विकास-ध्वनि की भाँति हँसती हुई बोली—"महाशय! आपको भी वर्णन न कर आया। वह तो आप ही अपना उपमेय है।" मैंने मन में कहा—"वासंती तो साहित्य-शास्त्र की भी पंडिता है? कहीं कविता-कामिनी ही तो नहीं है?"

मैंने कुछ और ढीठ होकर कहा—"तब तो दोनो एक हो गए।" वासंती किंचित् विद्रूप के साथ बोली—"तभी तो आप परास्त हो गए।" मैं फिर खिसियाकर रह गया।

मेरी भौजी बोली—"आओ, हमारे यहाँ आओ!" अब की

बार मालती-मुख से सुमन-वृष्टि हुई; किंचित् परिहास के साथ कहा—"छोटे देवर के ब्याह में तो पूछा तक नहीं। अच्छा, अब जब अपनी बालिका का ब्याह करोगी, तब आवेंगे।" मैंने मन में कहा—"धन्य भाग्य! आपने आना तो स्वीकार किया।" प्रकट में कहा—"तब तो मैं कल ही विद्या का ब्याह रचाऊँगा।" वासंती बोली—"बहुत अच्छा महाशय! हम भी कल पधारेंगी।" मैंने कहा—"यदि अभी विवाह का प्रबंध करूँ, तो?" अब की बार मालती ने उत्तर दिया—"तब हम अभी पदार्पण करेंगी।" मैंने मन में कहा—"हृदय में तो वर्ष-भर पहले ही पदार्पण कर चुकीं।" कुछ हँसकर मैं बोला—"आइए! सीढ़ी लगाए देता हूँ।" मालती ने मेरी बात अनसुनी करके चलते-चलते कहा—"वासंती, चलो! देर होती है।" वासंती ने कहा—"महाशय! ध्यान रहे! मजा चखने में 'सजा' और कभी-कभी 'क़ज़ा' तक की नौबत आ जाती है।"

मैं स्तंभित हो गया—कुछ हिम्मत बाँधकर बोला—"दंड-विधाता कौन है?" अनोखी हँसी के साथ उत्तर मिला—"हम!"

पाठक, प्रेम की राजसभा के न्याय-कर्ता का स्वेच्छाचार भी वांछनीय है; उसकी व्यवस्था सर्वोपरि मान्य होती है। नत-सिर होकर मैंने कहा—"स्वीकार है।"

तब तक दामिनी के चांचल्य की भाँति, मन की गति की भाँति, ऐंद्रजालिक चमत्कार की भाँति, वह त्रयी वहाँ से

अंतर्हित हो गई। मैंने उस दिन सोचा—"मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ; मृत्यु का दंड-विधान पाकर आज मुझे अमर-पद-प्राप्ति की अपेक्षा अधिक आनंद हुआ है।"

❀ ❀ ❀

सायंकाल के समय नगर के बाहर परिभ्रमण को गया। धीरे-धीरे निर्जन पथ पर समीर-लहरी में स्वर-लहरी मिलाकर गाने लगा—

प्रियतम ! रस में रिस मत होना।
हिय बिसवास आस-जल सींचत, इसमें विष जनि बोना।
तन मन धन जन चरन समरपन, अनबन चित मत होना।
नतरु मोहिं 'हृदयेश' देश तजि, बिलख-बिलखकर रोना।

वह रात्रि निद्रा-विहीन व्यतीत हुई।

विलास और व्यथा, क्या दोनो निद्रा के विरोधी हैं?

( ४ )

प्रियं न मृत्युं न लभे त्वदीप्सितं
सदैव न स्यान्मम यत्त्वमिच्छसि ;
वियोगमेवेच्छ मनः प्रियेण मे
तव प्रसादाच्च भवत्यसावपि।

—श्रीहर्षस्य

झुरत सरित सरवर बिटप, बिरह झार झर नीति ;
कहहु सु कैसे राखिहौ, कलित अंकुरित पीति।

—कवि करम

जो आशंका थी, वही घटित हुआ। उपर्युक्त घटना को तीन मास व्यतीत हो गए। वातायन पर फिर वारिधिबंधु प्रकट

नहीं हुआ। अंबर-प्रदेश श्री-विहीन हो गया; हृदय-भूमि में तीन मास का कृष्ण-पक्ष हो गया।

धीरे-धीरे आशा की मधुर मुस्कान में कुछ-कुछ रूखापन झलकने लगा, आशा के आभायुत वदन-मंडल पर रोग-जनित व्यथा की छाया दृष्टि-गोचर होने लगी। आशा क्षयी-रोग से पीड़ित होकर धीरे-धीरे मृत्यु की ओर अग्रसर होने लगी। क्या सचमुच ही, किशोरावस्था ही में, प्रकृति की पुत्रिका, हृदय की पोषिता, अनुराग की सहोदरा, जीवन की सहगामिनी और अभिलाषा की सहायिका आशा कराल काल के कठिन कवल में पतित हो जायगी ? हाय ! परम प्यारी आशा का ऐसा शोकमय अंत ! किंतु अवश्यंभावी को कौन अवरुद्ध कर सकता है ?

आशा की वह पूर्व-परिचित पद-झंकार अब मेरे मुख-मंडल पर मधुर मुस्कान नहीं लाती। आशा की क्षीण मूर्ति अब लोचन में अश्रुजल लाती है। आशा अब आंतरिक आवेश के साथ मेरे हृदयोद्यान के अभिलाषा-निकुंज में वृत्ति-पादप के पुष्प चयन करती हुई, अपनी मधुर गान-लहरी से मुझे उन्मत्त करती हुई, विहार नहीं करती। अब एक म्रियमाण दीपक के क्षीण आलोक में, प्रस्तर-रहित शय्या पर, मरणोन्मुखी आशा संसार को असार की भाँति परित्याग करके अपने प्रकृत गृह की ओर जाने के लिये उद्यत है। हाय आशे ! क्या मुझे इस असह्यावस्था में छोड़कर तुम चली जाओगी ?

आशा ने मेरी ओर देखकर मुस्किरा दिया। उस मुस्कान में माधुर्य नहीं था; उसमें तीव्र हलाहल था। मैंने सोचा, आशा कह रही है—"चलो, मेरे साथ चलो! तुम्हें मैं नंदन-वन में उर्वशी एवं रंभा के साथ विहार कराऊँगी।" मैंने पूछा—"आशे! क्या तुम स्वर्ग-विहारिणी हो? क्या इसी से तुम मृत्युलोक में अति काल तक नहीं रहतीं?"

आशा अब की बार खिलखिलाकर हँस पड़ी। पाठको, यह क्या उसकी अंतिम हँसी थी?

❀ ❀ ❀

मैं रोग-ग्रस्त हो गया; हृदय की ज्वाला अब ज्वर की ज्वाला में प्रकट होने लगी। एक दिन, दो दिन, चार दिन, इसी तरह एक मास बीत गया। ज्वर कम नहीं होता, आयुर्वेद की अव्यर्थ एवं दिव्य औषधियों का प्रयोग व्यर्थ होने लगा। जीवन की सहचरी आशा चल ही दी थी; अब क्या जीवन भी उसका अनुगामी होगा?

मित्र-मंडली की निरंतर शुश्रूषा, माता और भावज का अनंत परिश्रम, स्त्री के अनेक अनशन व्रत एवं निद्रा-हीन रात्रि—सब व्यर्थ होने लगे। सबने निश्चित रूप से जान लिया कि अब जीवन की कल्लोलिनी लाल-सागर में लीन हो जायगी।

एक रात्रि को मैंने स्वप्न देखा—

निर्मल नील आकाश में निशापति हँस रहे हैं; उनके सौंदर्य-

मंडित मंडल के मध्य में, मेरी प्यारी आशा, दिव्य परिधान धारण किए हुए, अनंत रूप-राशि की भाँति, मेरी ओर देख-देखकर हँस रही है। उसकी मुक्ता-निंदित दंत-पंक्ति की किरण-माला मेरे मुख-मंडल पर पतित हो रही है। मैंने उन्मत्त होकर कर-युगल आकाश की ओर प्रसारित करके कहा—"आशे! प्राणाधिके! एक बार फिर हृदय से लगाकर इस भीषण ज्वाला को शांत करो।"

आशा नीचे नहीं उतरी; चंपक-विनिंदिता उँगली उठाकर उसने कहा—"अधीर न हो, शांत हो! जिस हृदय की भीषण ज्वाला से तुम्हारी सारी देह परितप्त हो रही है, उसे मैं यहीं से आश्वासन-जल-धारा से बुझा दूँगी। जिस मार्ग में तुमने पग दिया है, उसका यह प्रथम सोपान है। इस प्रेम के महायज्ञ में हृदय की आहुति और जीवन का बलिदान दिया जाता है। क्या इसी से कातर होकर कायर की भाँति भीत हो रहे हो?"

मैंने कहा—"आशे! हृदय की आहुति और जीवन के बलिदान से मैं कातर नहीं। तुम हृदय की वासिनी थीं; तुम अवश्य जानती होगी। इस भीषण ज्वाला की व्यथा की बात मैं तुमसे कहता हूँ।"

आशा ने विद्रूप के साथ कहा—"यह पहली 'सजा' है; दूसरी के लिये प्रस्तुत हो।" मैंने भी गर्व से कहा—"आशे! प्रस्तुत हूँ।"

आशा बोली—"अच्छा, कल मालूम होगी।"

मैंने मन में कहा—"देखूँ, वह कैसी भीषण होगी।" आशा के साथ ही चंद्र-मंडल भी अंतर्हित हो गया।

❀ ❀ ❀

प्रातःकालीन गगन पर उषा-सहचरी के साथ प्राची दिशा हँसने लगी। पक्षिमंडली, सहचरी की भाँति, गा-गाकर दोनों को रिझाने लगी। आज मेरे हृदय में कल की अपेक्षा अधिक बल था।

भगवान् सूर्यदेव की किरण-माला आ-आकर मेरे वदन पर अठखेलियाँ करने लगी। मैं पड़े-पड़े रात्रि के स्वप्न की चिंता करने लगा। उस अशक्त अवस्था में भी प्रेम के कठिन दंड-विधान को सहने के लिये प्रस्तुत हुआ।

धीरे-धीरे प्रथम प्रहर अतीत हो गया; द्वितीय प्रहर, काल के प्रहरी के समान, उसके स्थान पर उपस्थित हुआ। किंतु मुझे वही चिंता थी! वही भावना मेरे पीछे पिशाचिनी होकर लगी है। यह चिंता क्या चितानल में दग्ध होगी?

बाहर से किसी ने मेरा नाम लेकर पुकारा। परिचित स्वर से मैंने पहचाना—"मालती का नौकर शिवसिंह है।"

मेरा हृदय वेग-पूर्वक धड़कने लगा। मैंने सोचा, दरबार से सज़ा का परवाना लेकर क्या शिवसिंह आया है?

मेरी भावज इत्यादि एक ओर को हट गईं। वृद्धा माता अपनी वात्सल्यमयी गोद में मेरा सिर रखकर बैठी रहीं।

माता का स्नेह भी स्वर्गीय वस्तु है। मातृ-हृदय में अवश्य ही प्रकृति के परमोत्कृष्ट प्रेम का प्रमाण मिलता है। दुर्भाग्य से वह प्रेममयी जननी भी मुझे छोड़कर चली गई है।

शिवसिंह अंदर आया; पास ही पड़ी हुई कुर्सी पर मैंने बैठने का संकेत किया। पाठक, लैला का कुत्ता भी मजनूँ को प्राणाधिक प्रिय था।

मैंने अत्यंत क्षीण स्वर में पूछा—"शिवसिंह, कहो, अच्छे तो हो ?" शिवसिंह मेरी दशा देखकर कुछ विचलित हुआ; फिर बोला—"हाँ अच्छा हूँ; किंतु आपकी दशा तो अत्यंत शोचनीय हो रही है।" ठंडी साँस लेकर मैंने कहा—"हाँ! सब विश्वेश्वर के अधीन है।" शिवसिंह ने कुछ धीमे स्वर में कहा—"हाँ ! सो तो ठीक है। मुझे आज वासंतीदेवी और मालतीदेवी ने भेजा है। पूछा है, आपकी तबीयत कैसी है।"

पाठक ! मुझे विश्वास नहीं हुआ। अपने भाग्य पर मुझे भरोसा नहीं। मैंने समझा, शिवसिंह परिहास कर रहा है। मैंने कहा—"क्यों शिवसिंह, इस दशा में भी तुम्हें हँसी सूझी है ?" शिवसिंह कुछ विरक्त स्वर में बोला—"महाशय ! मैं आपसे हँसी करने योग्य नहीं हूँ। मुझे वास्तव में श्रीमती वासंतीदेवी और श्रीमती मालतीदेवी ने आपको देखने के लिये भेजा है।"

मैंने मन में कहा—"मायाविनी आशा ! यही क्या सजा है ? यह दंड तो अत्यंत मधुर है।"

शिवसिंह से मैंने कहा—"श्रीमती वासंतीदेवी और श्रीमती मालती देवी से मेरी ओर से प्रणाम-पूर्वक निवेदन करना कि आपके चरणों की कृपा से अच्छा हूँ। इस; अकारण स्नेह के लिये उनको असंख्य धन्यवाद।" शिवसिंह ने मुझे एक पुड़िया दी। मैंने देखा, उसमें विभूतिमय एक काला डोरा था। शिवसिंह ने कहा—"महाशय! मालतीदेवी ने आपको कंठ में पहनने के लिये यह मंत्र-पूत काला डोरा भेजा है।"

पाठक! मैं हर्षोन्मत्त हो उठा; मेरे लोचन-युगल से आनंद के आँसुओं की धारा बहने लगी। मैंने मन में कहा—"मालती! अपने रोगी को अच्छा करने के लिये तुम्हारा इतना प्रयास!"

एक ओर से हृदय-कोण में किसी ने कहा—"स्मरण रहे, अच्छे होने पर फिर 'क़त्ल' किए जाओगे।"

कहने की आवश्यकता नहीं—मैंने वह पवित्र काला डोरा सिर पर चढ़ाकर कंठ में पहन लिया।

उसी दिन से मैं अच्छा होने लगा; धीरे-धीरे मैंने पूर्ण आरोग्य लाभ कर लिया।

पाठक! औषध-प्रयोग के ज्ञान से रोग का निदान अत्यंत कठिन है।

( ५ )

सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारामणीन्दुषु ;
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत्।

—श्रीभर्तृहरि योगींद्रस्य

Weep for the dead, for they have lost their light, and weep for me, lost in an endless night.

—*From "On Himself" by Herrick.*

मुझे भ्रम हुआ कि श्रीमती मालतीदेवी के हृदय में मेरी श्रोर से अनुराग का अंकुर उत्पन्न हो गया है। किंतु मेरी यह भूल थी। वह अनुराग नहीं था, अनुकंपा थी। प्रीति नहीं थी, करुणा थी। हाय! मुझसे भारी भूल हुई।

फिर समय अतीत होने लगा, शरीर में फिर शक्ति-संचार होने लगा। किंतु हृदय? हृदय वैसा ही शक्ति-हीन रहा। लोचन में ज्योति थी, राग नहीं था। मुख फिर भर आया था, किंतु रक्तिमा अदृश्य हो गई थी। बाह्यिक सब कुछ पूर्ण हो गया था, किंतु अंतर वैसा ही शून्य था।

वसंत के उपरांत ग्रीष्म और ग्रीष्म के उपरांत वर्षाकाल आ पहुँचा। व्यथित वियोगी की लोचन-धारा की भाँति मेघ-माला वारि-विमोचन करने लगी। हृदय में दुःख की घटाओं की भाँति अंबर-प्रदेश में घनघोर घटा पुंजीभूत होने लगी। विकल कामिनी की भाँति दामिनी कभी बाहर आती और कभी फिर घटा-मंडप में छिप जाती थी।

मैं एक दिन बैठा हुआ विचार कर रहा था—"मेरा भाग्य मंद होने पर भी कुछ-न-कुछ सहाय अवश्य होता है। मेरी रुग्णावस्था में तो वह अवश्य सहाय हुआ था।" अमावास्या की कालिमामयी यामिनी में, घनघोर मेघ-मंडल के

पुंजीभूत होने पर भी, श्रांत पथिक को अवलंब देने के लिये अंबर-प्रदेश के सुदूरवर्ती एक कोण पर अवश्य ही एक नक्षत्र उदित होता है। मंदातिमंद भाग्य में भी एक उज्ज्वल रेखा होती है।

हृदय में विचार उठा—प्रेम तो अनंत-कालव्यापी है; मनुष्य को हमारे शास्त्रानुसार अनेक योनियों में परिभ्रमण करना होता है। क्या अनंत जन्म में भी मेरे प्रेम का पथ पूर्णतया परिष्कृत नहीं होगा? क्या यह मंद भाग्य सर्वदा ही विस्मृति के अथाह गर्भ में डूबा रहेगा।

एक ओर एक पालित मयूर बोला; मुझे ज्ञात हुआ, उसकी ध्वनि में आनंद-लहरी है। आज फिर आशा, मयूर के कंठ द्वारा, मुझे आश्वासन देकर कह रही है—"नहीं, कभी फिर भी चंद्र-दर्शन होगा।"

पालित मयूर की ओर देखकर मैंने कहा—"मयूरवर! घन-श्याम करें, तुम इस आश्वासन के लिये श्याम घन से कभी वियुक्त न हो।" मयूर फिर बोला; मैंने समझा—आनंद से विह्वल होकर मयूर ने मेरे आशीर्वाद-वचन के लिये मुझे धन्यवाद दिया।

पानी का पतन कम हुआ; रोते-रोते मेघ-मंडल भी परिश्रांत हो गया; इतना रो चुकने पर भी क्या लोचन का अश्रु-सलिल कम न होगा? क्या अनंत काल तक रोना-ही-रोना रहेगा?

पाठको, अश्रु-सलिल में महाशक्ति है। पाषाण-हृदय को धीरे-

धीरे अश्रु अपने रूप में परिणत कर लेते हैं, प्रबल अनल से मुरझाए हुए प्रेम-पादप को सींचकर हरा-भरा करते हैं, वियोग-ग्रीष्म के असह्य उत्ताप से व्याकुल हृदय-मरु-भूमि को शांत करते हैं। अश्रु! तुम बड़े परोपकारी हो; तुम्हारी विराट् महिमा है।

सम्मुख से शिवसिंह आता हुआ दिखाई दिया। मैंने आग्रह-पूर्वक पुकारा—"शिवसिंह!" शिवसिंह ने कर जोड़कर कहा—"प्रणाम।"

मैंने पूछा—"शिवसिंह! इस दुर्दिन में कहाँ चले?" उसने उत्तर दिया—"आप ही के समीप आया हूँ।" मैंने अभ्यर्थना-पूर्वक कहा—"आओ, बैठो, कहो, क्या कोई आवश्यक कार्य है?"

शिवसिंह आज बहुत उदास था; मुख पर बार-बार एक भाव आता था, दूसरा जाता था। शिवसिंह ने केवल एक ठंडी साँस ली। मेरा वाम नेत्र फड़का, मैंने मन में कहा—"विश्वेश्वर! कुशल करना।"

शिवसिंह के नेत्र सलिल-पूर्ण हो आए; मेरे बार-बार पूछने पर उनसे धारा बहने लगी। आशंका से मेरा हृदय उद्विग्न हो उठा, भावी अमंगल के भय से मैं एकदम व्यग्र हो उठा। मैंने फिर पूछा—"शिवसिंह, क्या है? आज बालक की भाँति तुम क्यों अधीर हो रहे हो?"

शिवसिंह फिर भी न बोला। धारा और वेगवती हो उठी। शिवसिंह की हिचकी बँध गई। मैंने अपने रूमाल से उसके

आँसू पोंछकर करुणा-व्यंजक स्वर में पूछा—"शिवसिंह! क्यों कातर होते हो? कारण बताओ।"

शिवसिंह अब की बार अस्फुट स्वर से बोला—"महाशय! कल रात्रि को ११ बजे की गाड़ी से श्रीमती वासंतीदेवी और श्रीमती मालतीदेवी............को प्रस्थान करेंगी। यही कहने को मैं आया हूँ।"

पाठक, मैं स्तब्ध हो गया। ज्ञात हुआ, आज आकाश से हृदय के ऊपर वज्र पतित हुआ, हृदय मानो चकनाचूर हो गया। मैं समझ गया कि मायाविनी आशा की बात ठीक हुई; आज आत्मविस्मृत होकर, मणिधर कि भाँति अपने हृदय की अमूल्य मणि को खोकर, मैं जगत् में प्रलय का अंधकार देखने लगा।

मैं संज्ञा-हीन हो गया।

प्रेम क्या प्रलय का सहोदर है?

❀ ❀ ❀

वे दोनो चली गईं; नंदन की भूमि रोती रह गई, पारिजात पलायन कर गए।

कभी-कभी अब भी एकांत में बैठकर मैं रोता हूँ, उनकी कल्पनामयी मूर्ति के सम्मुख कहता हूँ—राजराजेश्वरी, भगवती! दंड-विधान करो। अभी 'क़ज़ा' की अंतिम 'सज़ा' शेष है।

एक दिन प्रतीत हुआ, मालती कहती है—"तुम्हारे पार्थिव

प्रेम का इतिहास संपूर्ण हो गया; पारलौकिक घटनावली के लिये प्रस्तुत हो।"

मायाविनी आशा और महारानी मालती के शब्दों का भाव क्या एक ही है? तब क्या प्रेम का पार्थिव अंत प्रलय में है?

# योगिनी

## ( १ )

मधुरधं मधुरैरपि कोकिला—
कलरवैर्मलयस्य च वायुभिः ;
विरहिण: प्रहिणस्ति शरीरिणो
विपदि हंत ! सुधापि विषायते ।
—श्रीमत् हरियोगींद्रस्य

Yet oh yet thyself deceive, not
Love may sink by slew decay
But by sudden wrench believe not
Hearts can thus be torn away.
—*Byron*

चकोरी चंद्रमा को, मयूरी मेघ को, सरोजिनी सूर्यदेव को, अत्यंत अंतर होते हुए भी, अपने हृदय के अभ्यंतर में स्थापित करती है। इसी से क्या प्रेम को असीम कहते हैं ? क्या इसी से समस्त संसार ने प्रेम को एक मति होकर अपरिमेय माना है ?

कुमुदिनी कलाधर की प्रेमाभिलाषिणी है, किंतु कौमुदी से वैर नहीं रखती। चातकिनी मेघ की दर्शनाभिलाषिणी है, किंतु दामिनी से द्वेष नहीं करती। सूर्यमुखी, निश्चल नेत्रों से, ऊर्ध्व-मुखी होकर केवल दिननाथ को ही देखती है, किंतु कांति के प्रति

विमना नहीं होती। क्या इसी से शास्त्र-समूह ने प्रेम को परम पवित्र और स्वर्गीय माना है ?

शैवालिनी के मुख पर दिव्य आभा है; स्वर्गीय लावण्य है; दैवी तेज है। हृदयाकाश के पूर्ण प्रेम सुधाकर का स्निग्ध प्रकाश वदन-मंडल पर प्रतिफलित हो रहा है। कैसा पवित्र भाव है! कैसा पावन दृश्य है!!

निर्मल नील नभोमंडल में निशानाथ, अपने अनिंद्य सौंदर्य की शोभा का विस्तार करते हुए, अपूर्व हाव के साथ हँस रहे हैं। प्रकृति प्रसुप्ता है; विश्व निद्रा की विश्राममयी अंकस्थली में आत्मविस्मृत हो रहा है।

शैवालिनी कभी आकाश की ओर देखती है; कभी मत्त-मातंग-गामिनी मंदाकिनी के विमल वक्षःस्थल में प्रतिबिंबित कलाधर की कमनीय मूर्ति को देखती है। शैवालिनी ने सुधाकर की ओर देखकर कहा—"चंद्रदेव! क्या सुरेंद्र से भी तुम अधिक सुंदर हो ?"

मंदाकिनी अपनी कल-कल ध्वनि करती हुई बही जा रही है; शैवालिनी की विचार-कल्लोलिनी का भी आज अटूट प्रवाह है।

शैवालिनी गैरिक वस्त्र परिधान किए हुए है। मंद समीर कलित कुंतल-कलाप से क्रीड़ा कर रहा है। चैत्र शुक्लाष्टमी की यामिनी में मानो रति सुंदरी योगिनी बनकर, मंदाकिनी के मुनि-सेवित कूल पर बैठी है। अपूर्व दृश्य है, अनुपम चित्र है; मनोहर मूर्ति है।

शैवालिनी सोचने लगी—"क्या इस जीवन में उनसे साक्षात् न होगा? क्या हृदय-निकुंज की आशा-लता कभी विकसित न होगी? क्या अभिलाषा के मलीन मुख पर मधुर मुसकान की रेखा का कभी प्रादुर्भाव न होगा?"

शैवालिनी ने एक बार लोचन-युगल उठाकर चंद्रदेव की ओर देखा। एक बार ही सुधांशु की स्निग्ध किरणमाला शैवालिनी के मुख-मंडल पर पतित हुई; ज्ञात हुआ, शशांक लज्जित होकर, सहस्रशः विभक्त होकर, वदन-मंडल पर बलिहार हो गया।

शैवालनी के लोचन-युगल में एक भाव गुप्त रूप से विराजमान था; चंद्रदेव उसे जान सके या नहीं, सो जगदीश्वर जाने। शैवालिनी ने कुछ धीमे स्वर में कहा—"वारिधिबंधु! हृदय का वियोग-वारिधि तुम्हें देखकर और भी उमड़ रहा है। देखो, कहीं यह असीम होकर हृदय का भी नाश न कर दे! चंद्रदेव! तुम विश्व के साक्षी हो; जगदीश्वर के स्निग्ध लोचन हो; महामाया प्रकृतिदेवी के तुम सहोदर हो। सत्य कहना; क्या तुमने कहीं प्यारे सुरेंद्र क देखा है?"

चंद्रदेव निश्चल रहे; शैवालिनी के प्रश्न का उत्तर उन्होंने कुछ नहीं दिया।

शैवालिनी ने कर जोड़कर कहा—"जगज्जननि! त्रैलोक्य-पावन-कर्त्रि! शंकरमौलिमालिके!! तुम्हारे युगल चरण-कमल में अनेक बार प्रणाम है। मा! तुम अनंत देशों में बहती हो;

तुम्हारी गति सर्वत्र है। मा! तुम बताओ, सुरेंद्र कहाँ हैं? प्राण के परम प्रिय प्रभु कहाँ हैं?"

महारानी मंदाकिनी ने भी मौन अवलंबन कर लिया, शैवालिनी की प्रार्थना का क्या फल हुआ, सो स्वयं मंदाकिनी जानें।

शैवालिनी ने अब की बार बड़े करुणा-व्यंजक स्वर में कहा—"सुरेंद्र! प्यारे सुरेंद्र!! देखो! तुम्हारे बिना हृदय की कैसी दशा है! तुम्हारे बिना हृदय मरुप्रदेश की भाँति तप रहा है। हाय! तुम्हें क्या मालूम!!!"

अब की बार मंदाकिनी का मौन भंग हुआ। एक बार ही ज्ञात हुआ, मानो जल की कल-कल पहले की अपेक्षा बढ़ गई है। शैवालिनी ने कहा—'समझती हूँ मा! तुम कहती हो, उनका नाम जपो; उनके नाम की माला फेरो। जननी! तुम तो अंतर की बात जानती हो। रोम-रोम में उनका पवित्र नाम अंकित है। हृदय की वीणा का प्रत्येक तार उनके नाम को उच्चारण करता है।"

शैवालिनी के हृदय का आवेग बढ़ने लगा। यदि उसकी कोई सहचरी वक्षःस्थल पर हस्तस्थापन करके देखती, तो उसे ज्ञात होता कि शैवालिनी का हृदय, वक्षःस्थल के कठोर कारागार को विध्वंस करके, सुरेंद्र के पास निकल जाने को व्याकुल होकर जल-विहीन मीन की भाँति, पिंजर-बद्ध पक्षी की भाँति, स्वतंत्रता-भ्रष्ट क्रीतदास की भाँति, कालज्वर के दीन रोगी की

भाँति, सद्यःछिन्न मुंड की भाँति, तड़प रहा है। हाय! इस कोमल कलेवर में ऐसी भीषण अग्नि! इस पारिजात-पुष्प पर ऐसा प्रबल वज्र-प्रहार!!

शैवालिनी हृदय के आवेग में संज्ञा-हीन हो गई; एक बार ही पुलिन पर अचेत होकर गिर पड़ी।

सुधाकर सुधा-धारा बरसाने लगे; मंद समीर मंदाकिनी से शीतल जल-कण ले-लेकर उसका मुख आर्द्र करने लगा; सुरभित समीर व्यजन करने लगा; विकसित कलिका सुगंध सुँघाने लगी। सारी प्रकृति प्रजा शैवालिनी को चैतन्य करने में स्वतः प्रवृत्त हो गई। प्रकृति जिस पर प्रसन्न है, प्रीति जिसकी निरंतर सहचरी है, पवित्रता जिसकी सखी है, उसकी सेवा करने में कौन सौभाग्य नहीं मानेगा?

कुछ काल के उपरांत शैवालिनी को चेत हुआ; हृदय की ज्वाला कुछ शांत हो गई। कुछ काल की कल्याणकारिणी मूर्च्छा ने हृदय के आवेग को बहुत कुछ दूर किया। मूर्च्छा देवी! तुम धन्य हो। मानसिक व्यथा की, शारीरिक पीड़ा की, जीवन की घोर ज्वाला की, तुम अव्यर्थ ओषधि हो। क्या तुम मोक्ष की कनिष्ठा भगिनी हो?

शैवालिनी कुछ शांत हो गई। कालिमाच्छादित अंबर-प्रदेश भीषण अंधकार को विच्छेद करती हुई प्रकाश की क्षीण रेखा दृष्टिगोचर हुई। उत्तप्त मरु-प्रदेश में आशा-कादंबिनी का प्रादुर्भाव हुआ।

शैवालिनी ने प्रकृत त्याग का मर्म पहचाना ; निःस्वार्थ प्रेम का तत्त्व देखा ; हृदय के प्रभु को हृदय में देखकर शैवालिनी गुनगुनाने लगी—

गान—[ राग कान्हरा ]

निंदत छवि श्याम वदन की । टेक ।
निंदत इंदु कुंद कुंदन द्युति, चंदन तिलक सुवास सुमन की ।
मोहत अलिम-अलिन अलकन पर, नलिन मलिन लखि लसत हँसन की ।
मृदुल लुलित अति ललित विलोचन, कलित कमल दल दलन मदन की ।
प्रिय 'हृदयेश' वेश सुंदरतर; भूलत सुधि बुधि असन बसन की ।

समीर-लहरी पर आरूढ़ होकर स्वर-लहरी मानो समस्त विश्व में परिव्याप्त होने लगी ।

( २ )

मोहिं तुम्हे अंतर गनैं न गुरुजन तुम,
मेरे हौ तुम्हारी पै तऊ न पिघलत हौ !
पूरि रहे या तन में मन में न आवत हौ,
पँच पूँछ देखे कहूँ काहू न हिलत हौ ।
ऊँचे चढ़ि जोई कोई देत न दिखाई 'देव'
गातनि की ओट बैठे बातन गिलत हौ ।
ऐसे निरमोही सदा मोही में बसत अरु,
मोंहीं तें निकरि फेरि मोंहीं न मिलत हौ ।

—महाकवि देव

It thou composed of gentle mould,
Art so unkind to me.
What dismal stories will be told,
Of those that crud be.

—*Herrick*

प्रणय अपरिमेय है।

प्रणय का अनंत वैभव है। अंबर-चुंबि राजप्रासाद के अभ्यंतर में, अनंत रत्नमाला से आलोकित विलासकक्ष में, प्रस्फुटित पद्मपुंज के पराग से आमोदित आराम में, कुसुम-कलेवर कामिनी की कंठ-लहरी से मुखरित प्रकोष्ठ में, मूर्तिमती रागिनी के स्निग्ध सौंदर्य से रंजित रंगभूमि में, शृंगारमयी कविता-किशोरी के मधुर पदलालित्य से रसित साहित्य-सदन में प्रेम, अपनी विस्तृत विभूति से विभूषित होकर अपने अनिंद्य यौवन के अपूर्व प्रकाश में, अपने सौंदर्य की दिव्य ज्योति के मध्य में, अनंत आनंद का प्रवर्तक होकर, भगवान् की आनंद-मूर्ति का 'साकार' परिचय देता है।

प्रणय का असीम विस्तार है। मराल-मंडिता मंदाकिनी में, कल-हंस-कूजिता कालिंदी में, पद्मरागमयी वापी में, सुमन-सज्जिता, कुसुम-शोभिता मालती में, कांचनमयी कैलास-कंदरा में, पराग-पूर्ण पद्माकर में, सुरभित सुर-कानन में, नक्षत्र-खचिता यामिनी में, सुधामयी शरच्चंद्रिका में, प्रेम सर्वत्र, सर्वदा, समान भाव से विचरण करता है।

प्रणय में अपूर्व त्याग है। आजन्मव्यापी सेवा-व्रत का अनुष्ठान करनेवाले महात्मा के आश्रय में, उदधिमेखला पृथ्वी के राज्य को परित्याग करनेवाले योगीश्वर की कुटी में, सर्वस्व दानी के हृदय-मंदिर में, जीवन का बलिदान देनेवाले वीरवर के महान् मन-सदन में, तीक्ष्ण दंशन एवं कठोर अग्नि-शिखा

से भस्मीभूत सहनशील के वक्षःस्थल में—प्रेम—पवित्र प्रेम—आनंद-पूर्वक विहार करता है। धधकती हुई चिता में, सागर के असीम गांभीर्य में, कठोर वज्र-प्रहार में, कठिन कृपाण की धार में, घोर हलाहल की तरंग में, भयानक संग्राम के मध्य में—आशा के, बिना अभिलाष के, एकाकी प्रेम निर्द्वंद्व होकर घूमता है।

प्रेम का अद्भुत प्रताप है। स्वार्थ का सर्वस्व अपहरण करके, मोह का मान भंग करके, क्रोध को कराल काल का कवल बना करके, विकार का विनाश करके, द्रोह का दमन करके, पाप का प्राणापहरण करके, प्रेम का प्रताप, प्रभाकर की प्रचुर प्रभा की भाँति, संसार को आलोकमय बना देता है।

प्रेम का पावन परिवार है। प्रकृति पालिका है, महामाया ममतामयी माता है, पवित्रता पत्नी है, करुणा कन्या है, भक्ति भगिनी है, शांति सुशीला सहचरी है, दया दासी है, परम-पुरुष पिता है, विश्वास बंधु है, सौंदर्य सहोदर है, स्नेह सुपुत्र है, भाव भृत्य है और शील सहचर है।

शैवालिनी अब इसी परिवार के साथ रहती है। कोलाहल-पूर्ण संसार का आश्रय परित्याग करके अब शैवालिनी प्रेम की दिगंत-व्यापिनी छत्रच्छाया में, अपने सुरेंद्र के नाम की माला का जप करती हुई, अपने पवित्र जीवन को अतिवाहित करती है। शैवालिनी जान गई है कि प्रेम का आश्रय आनंदप्रद है, प्रचुर-प्रकाशमय है, महा-महिमा-मंडित है।

सायंकाल को जब भगवान् भास्कर पश्चिम गगन में कुछ काल

के लिये स्थित होकर, रसातल में गमन करने से पूर्व, पृथ्वी का पवित्र मुख-मंडल सतृष्ण नयनों से देखते हैं, जब विहंग-कुल, ऋषि-कुल की भाँति पादप-पुंज पर बैठकर, अपना सुमधुर गान गाता है, जब दिवसेश्वर की ज्वालामयी किरणों से परिश्रांत होकर कोमल कुसुमसमूह सुरभित सांध्य समीर के सहवास से सहास्य-वदन होते हैं, तब शैवालिनी मंदाकिनी के परम पावन पुलिन पर प्राणप्रिय सुरेंद्र की कल्याण-कामना के लिये परमेश्वर से प्रार्थना किया करती है।

मध्य-यामिनी में जब सुधाकर समस्त धरित्री-मंडल को अपनी सुधा-धारा से सावित करते हैं, जब चंद्रदेव निर्वाण-दायिनी जाह्नवी के विमल वक्षःस्थल में अवगाहन करने के लिये अपने प्रतिबिंब को प्रस्थापित करते हैं, जब मराल-गामिनी मंदाकिनी मधुर नूपुर-ध्वनि से मार्ग को मुखरित कर चंद्रिका की शुभ्र सारी परिधान करके, शुक्लाभिसारिका की भाँति, तन्मयी होकर, सागराभिमुख जाती है, जब सलिल-विहारिणी कुमुदिनी, कौमुदी सखी का सुखमय साहचर्य पाकर, कलाधर के परिहास में आत्मविस्मृत-सी हो जाती है, तब शैवालिनी, सुरेंद्र की प्यारी प्रतिमा का ध्यान करती हुई, अर्धनिमीलित-लोचना होकर, हृदय-निवासी प्रेमोन्माद के स्वर में स्वर मिलाकर गाती है। गाते-गाते तन्मय हो जाती है।

प्रातःकाल के समय, जब प्राची दिशा आगतपतिका नायिका की भाँति अपूर्व शृंगारमयी होकर अपने वदन-मंडल पर अनु-

राग की लालिमा प्रकट करती है, जब विभावसु-विलासिनी पद्मिनी, मुग्धा परकीया की भाँति, प्रेमी का परम वांछित दर्शन पाकर मंद-मंद हास्य करने लगती है, जब प्रातःसमीर, अनुकूल नायक की भाँति, लता-समूह से परिहास करने लगता है, जब अज्ञातयौवना नायिका की भाँति, अधखिली कली हँसने लगती है, जब विलासी मधुपगण रात्रि-भर रति-क्रीड़ा करने के उपरांत पराग-पूर्ण कलेवर लेकर नलिनी के कक्ष से बाहर निकलने लगते हैं, जब ऋषि-मंडल की गगन-भेदी पवित्र सामध्वनि वायु-लहरी पर आरूढ़ होकर नंदनवन-विहारिणी वारांगनाओं की कंठ-लहरी से मिश्रित होकर सुर-समूह को अत्यंत आनंदमयी प्रतीत होती है, तब शैवालिनी अपने हृदय-कंज की अंजलि लेकर, अपनी अभिलाषाओं की माला बना-कर, अपनी अश्रु-धारा से, सुरेंद्र का पूजन करती है।

शैवालिनी योगिनी है। विलासमय गृह, वात्सल्यमयी जननी, प्रेम-निधि पितृदेव, स्नेह-सागर सहोदर, भक्तिमयी भगिनी सबको परित्याग करके शैवालिनी तन से और मन से सुरेंद्र के लिये योगिनी बनी है। विश्व-वासना को बहिष्कृत करके, तृष्णा का तृणवत् तिरस्कार करके, लोभ को लुंठित करके हिमाचल के उच्च शिखर पर, अंबर-पतिता सुर-किशोरी की भाँति, अंबालिका की सहचरी की भाँति, मंदाकिनी की सखी की भाँति, कलाधर की कला की भाँति, सूर्यदेव की कांति की भाँति, विहार करती हुई गाया करती है।

गान—[ राग जैजैवंती ]

कहूँ पिया पीतम को पाऊँ, कुंज-कुटी में रास रचाऊँ।

लोचन सलज जलज रतनारे,
कलित केश कोमल घुँघरारे,
सरस सुधाकर सम छवि वारे,
जो इन नैनन ते लखि पाऊँ। कुंज०

हँसत सुमन मन मनहुँ विमोहै,
चितवन मृगन मदन-धनु सोहै,
अतनु सुतनु तनु जन मन मोहै,
बार-बार अलि! बलि-बलि जाऊँ। कहूँ पिया०

नैनन बीच मूँदकर राखैं,
रसना ते सुरसिक रस चाखैं,
लखि 'हृदयेश' लाख अभिलाखैं
पुनि-पुनि पूरि-पूरि हिय लाऊँ। कहूँ पिया०

( ३ )

"प्राणनाथ! बालक सुत दुहिता"
यों कहती प्यारी छोड़ी।
"हाय! वत्स, वृद्धा के धन"
यों रोती महतारी छोड़ी।
चिर-सहचरी रयाजी छोड़ी,
रम्यतटी रावी छोड़ी।
शिखा-सूत्र के साथ हाय उन
बोली पंजाबी छोड़ी।

—कस्यचित्कवेः

दोस्ती का हो ज़माने में भरोसा किस पर ;
तू मुझे छोड़ चला ऐ दिले शैदा ! किस पर ?

—कस्यचित्कवेः

आज वसंत-पंचमी है। महा-सरस्वती-पूजन का परम पावन अवसर है; रतिराज की अभ्यर्थना का सुंदर दिवस है; ऋतु-राज के राज्यारोहण की परम पुनीत तिथि है; शृंगार के सहोदर का जन्म-मुहूर्त है।

आज से ठीक दो वर्ष पहले सुरेंद्र के साथ शैवालिनी का विवाह हुआ था। आज ही के दिन सुरेंद्र ने सौंदर्यमयी शैवालिनी का कंकण-विभूषित पाणि-पल्लव, अग्निदेव को साक्षी बनाकर, अपने करकंज में ग्रहण किया था। आज ही के दिन शैवालिनी ने प्रेम के पवित्र स्पर्श की विद्युत्-गति का अनुभव किया था। आज ही के दिन शैवालिनी का कोमल कलेवर, प्रथम बार प्रेम के शुचि संसर्ग से रोमांचित हुआ था। आज ही के दिन मालती-लता में कली का विकास हुआ था; लवंग-लता ने रसाल का आश्रय ग्रहण किया था; माधवी तमाल की जीवन-संगिनि बनी थी। दो हृदय एक हुए थे; दो आत्माएँ एक हुई थीं। आज ही के दिन शरीर के दो अर्ध भाग मिलकर पूर्णता को प्राप्त हुए थे।

शैवालिनी के प्रथम मिलन की तिथि ही उसके लिये बिछोह की तिथि हुई। सुहाग-रात मानो महानिशा हो गई।

वसंत-पंचमी की मध्य यामिनी में निद्रिता शैवालिनी का

परित्याग करके सुरेंद्र कहीं चले गए। शैवालिनी का सौभाग्य-सुधाकर मेघाच्छादित हो गया; प्रेम की आलोकमाला बुझ गई। शैवालिनी के हृदय-निकुंज में घोर अंधकार छा गया। यौवन-वन का पारिजात-पादप पुष्प-पल्लव-विहीन हो गया; हाय ! सुरेंद्र कहीं चले गए।

शैवालिनी का सुखमय वसंत शिशिर में परिणत हो गया; प्रफुल्ल संसार-कानन भीषण श्मशान-सम प्रतीत होने लगा। सखी-मंडल का स्नेहमय आश्वासन, गुरुजन का वात्सल्यमय संबोधन, भृत्यवर्ग की हार्दिक सहानुभूति, सब व्यर्थ हो गया। हाय ! अनंत जल-राशि के मध्य में, जीवन-जलपोत को छोड़कर शैवालिनी का केवट अंतर्हित हो गया। धैर्य ! विडंबना है। आशा ! मरीचिका है। संतोष ! मायावी है।

समय घोर उद्वेग को सांत्वना-पूर्वक शांत करने का प्रयास करता है; दुःख को अपने साथ लेकर धैर्य की ओर शनैः-शनैः गमन करता है। समय ! समय ! क्या तुम शांति और अशांति दोनो के सहोदर हो ?

सुधाकर सुधा और विष के सहोदर हैं। कुसुम कंटक और सौरभ, दोनो के सहवास में निवास करता है; रत्नाकर रत्न और राहु, दोनो का निकेत है; पद्माकर पंकज और पंक, दोनो का प्रासाद है। इसी से क्या प्रेम में शांति और अशांति, दोनो रहती हैं ?

शांति और अशांति, दोनो में स्वभावतः अंतर होते हुए भी

जन्म से अंतर नहीं है। जिस भूमि में शांति का निवास है, उसी की वन-मेखला में अशांति की भीषण कंदरा है। शांति! शांति! अशांति के भय से भीतहृदया शांति! सावधान!

शैवालिनी के हृदय की ज्वाला का वेग बढ़ने लगा। वियोग-वारिधि उमड़ने लगा। कैसा आश्चर्य है! वारिधि-बंधु के बिना भी वारिधि उमड़ रहा है। हृदय प्रलय-पयोधर के घोर अंधकार में मार्ग-भ्रष्ट हो भ्रमित होने लगा। केवल अंधकार! समस्त संसार कालिमामय! अज्ञात पथ! एकाकिनी शैवालिनी!! हाय! कैसे निस्तार होगा।

उद्वेग बढ़ने लगा। समय के साथ-ही-साथ आवेग का भी वेग बढ़ने लगा। सुसज्जित सदन श्मशान-सम प्रतीत होने लगा। हृदय की मणि खो गई; जीवन की ज्योति छिप गई! हाय! कौन बचावेगा?

नहीं सहा जाता! पारिजात की कोमल कली भीषण वज्र-प्रहार को कैसे सह सकती है? कलित-कलेवरा मालती अग्नि की प्रज्वलित शिखा-माला को कैसे सह सकती है?

हृदय का नंदन-वन शून्य हो गया। अभिलाषा-कोकिला मूक हो गई। आशा-लता पुष्प-पल्लव-विहीन हो गई। हाय! असमय में ऐसा भयानक उल्कापात!

अभी कली खिलने नहीं पाई थी कि शिशिर ने उसका नाश कर दिया। कोकिल कूकने नहीं पाई थी कि निष्ठुर व्याध ने कठोर बंदी-गृह में बंद कर दिया। यौवन-वन फूलने-फलने नहीं

पाया था कि दावानल ने भस्म कर दिया। कल्लोलिनी सागराभिमुख चलने भी नहीं पाई थी कि सूर्य की तप्त किरण-माला ने उसे मार्ग ही में सुखा दिया। हाय! कुसमय में निराश! अकाल में यौवन की आहुति!! कैसी तीव्र यातना है? कैसा भयंकर दर्शन है? कैसी असह्य पीड़ा है?

शैवालिनी एकदम उन्मादिनी हो उठी। पूर्णिमा की यौवनमयी यामिनी में, गृह को परित्याग करके, शैवालिनी अपने हृदय के आराध्य देव को ढूँढ़ने निकली। माया! मत रोको! तुम्हारा प्रयास व्यर्थ है। मोह! जाने दो! तुम्हारी शक्ति निष्फल है। भय! मार्ग दो! तुम्हारा बल-प्रदर्शन असमर्थ है। शैवालिनी! शैवालिनी! जाओ! इस विस्तृत विश्व में, इस मत्सर-पूर्ण संसार में, ज्वालामय जगत् में, भगवान् प्रेम-प्रभु तुम्हारी रक्षा करेंगे।

× × ×

शैवालिनी ने अनेक तीर्थों में परिभ्रमण किया, बहुत-से पुनीत स्थानों में विचरण किया। किंतु सुरेंद्र का पता कहीं न लगा। अंत को शैवालिनी हरिद्वार में, हिमाचल की रमणीय तटी में, मंदाकिनी के परम पावन पुलिन पर अपने हाथ से भाऊ की कुटी निर्मित करके निवास करने लगी। शैवालिनी ने साधना को अपनी सहचरी बनाया; व्रत को अपना भ्राता बनाया।

दो वर्ष व्यतीत हो गए। वह सुख की स्मृति! वह पवित्र परिहास! वह माधुरी मुसकान!! वह अप्सरा-विनिंदित कंठ!! वह कमनीय कलेवर!!! हाय! अब केवल स्मृति-मात्र शेष है।

आज वसंत-पंचमी है। आज शैवालिनी के विवाह की तिथि है। किंतु हाय ! उसे कौन मनावे ? जिनके साथ विवाह हुआ था, जिन्होंने अग्निदेव को सम्मुख साक्षी बनाकर पाणिग्रहण किया था, जिन्होंने ब्रह्मर्षि-मंडल की पवित्र वेद-ध्वनि के मध्य में अर्धांगिनी बनाया था, हाय ! जब वे ही अभागिनी को परित्याग करके चले गए, तब कौन उत्सव मनावे ? कौन समारोह करे ?

शैवालिनी के हृदय में प्रश्न उठा—"क्या सुरेंद्र ने मेरे साथ प्रतारणा की ?" दूसरे ही क्षण सहस्र सर्प-दंशन से भी अधिक पीड़ा हुई। शैवालिनी ने कहा—"प्रभो सुरेंद्र ! जीवितेश्वर ! क्षमा करना ! स्त्री-सुलभ निर्बलता को क्षमा करना। तुम्हारे विषय में ऐसा कलुषित विचार ! तुम कल्याण-मति हो। जो कुछ तुमने किया है, वह अच्छा ही होगा। तुम्हारी इच्छा मेरे लिये श्रुति है; तुम्हारा वचन मेरे लिये स्मृति है।"

दिन का तृतीय प्रहर शेष हो चुका है, पर अभी विद्रोही शिशिर का सर्वतोभावेन विनाश नहीं हो पाया। शैवालिनी ने मंदाकिनी से, विमल सुरभित सुमनांजलि छोड़कर, कहा—"मा ! तुम सर्वत्र-गामिनी हो। अनंतलोक-प्रवाहिनी हो ! जननी, जहाँ कहीं सुरेंद्र हों, हृदय के आराध्य देव हों, वहीं अंजलि को पहुँचा देना। आज के दिन उनके चरण-कमलों की पूजा अवश्य होनी चाहिए।"

मंदाकिनी ने शैवालिनी की प्रार्थना स्वीकार कर ली। शैवालिनी

की प्रेममयी भेंट को, अपने पवित्र वक्षःस्थल पर धारण करके, महारानी मंदाकिनी ले चलीं। शैवालिनी एकटक उस प्रवाहित प्रसूनांजलि को देखने लगी।

( ४ )

चिरकल्याणमयी तुमि धन्य !
देश-विदेशे वितरिछो अन्न !
जाह्नवि यमुना विगलित-करुणा
पुण्य-पियूष-स्तन्यवाहिनि।
अयि जनक-जननी-जननि, अयि भुवन-मनोमोहिनि।
—रवींद्र

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"
—पूर्णावतारस्य भगवतः श्रीकृष्णचंद्रस्य

चिर-निद्रा के उपरांत भारत में अपूर्व जागृति हुई है, अपरिमेय प्रेम की स्फूर्ति हुई है। दासत्व-बद्ध भारत ने अपने प्रकृत स्वत्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। भारत अपने जन्म-सिद्ध अधिकार का मर्म जान गया है।

जो स्वाधीनता प्रकृति की प्रथम भेंट है, जगदीश्वर की प्रथम ज्योति है, ज्ञान और सुख की वात्सल्यमयी माता है, मोक्ष-प्राप्ति का अनिवार्य प्रथम सोपान है, उसी स्वाधीनता को—उसी प्यारी स्वाधीनता को—चिर-विस्मृति की अंधकारमयी कंदरा में पड़े भारत ने फिर से देख पाया है। खोई हुई मणि की ज्योति-रेखा दृष्टिगत हुई है। भारत में स्वाधीनता का राग परिव्याप्त होने लगा है।

भारतीय नवयुवकों के हृदय-क्षेत्र में फिर से पूर्व-रक्त की मंदाकिनी बहने लगी है; उर्वरा भूमि में फिर से देश-प्रेम का अंकुर प्रकट हुआ है। जगदीश्वर करे यह पल्लवित, पुष्पित एवं सफल हो।

भारतीय नवयुवक-गण प्रताप का परम पवित्र आदर्श जानने लगे हैं; छत्रपति शिवाजी को गिरि-निवासी दस्यु विश्वास न करके अब भारत का उद्धारकर्ता मानने लगे हैं। इतिहास के विस्मृत पृष्ठों को उज्ज्वल आलोक में लाकर अपने पूर्वजों की विजय-वैजयंती को, तुषार-मंडित हिमाचल के सर्वोच्च सुवर्ण-शृंग पर, सूर्यदेव के उज्ज्वल आलोक में, चंद्रदेव के स्निग्ध प्रकाश में, फहराने का प्रयास करने लगे हैं। समय सन्निकट है। विजय की विमोहिनी वीणा से, उन्मत्त होकर, भारतीय युवक-समाज 'वंदे मातरम्' का पवित्र राग मिलाकर उज्ज्वल भविष्य का परिचय देने लगा है।

यह शुभ लक्षण है; कल्याणकारी शकुन है। भारतेश्वरी को रत्नाभूषण परिधान कराने के लिये भारतीय युवक-सेना रसातल विजय करेगी। माता की अर्चना के लिये देवराज के नंदन-वन से सुमन चयन करेगी। जन्मभूमि की पादसेवा के लिये देवांगनाओं का आह्वान करेगी। राजरानी के शृंगार के लिये त्रैलोक्य की विभूति का विराट् संग्रह करेगी। कोई बाधा, कोई कष्ट, कोई व्याघात इस विजयोन्मत्त सेना को नहीं रोक सकता। संसार नत-शिर होगा। अंबर विजित होगा, संसार

स्वयं मार्ग देगा। रसातल भारतेश्वरी के पाद-तल पर लुंठित होगा। अचल विचल होंगे।

युवक-मंडल का नूतन आवेश है। घोर निद्रा से जगकर अब भारत का सुपुत्र-समाज भारतोद्धार के लिये कटिबद्ध हुआ है।

भगिनी कहती है—"जाओ भाई! भारत का उद्धार करो; हम भी तुम्हारा साथ देंगी।" माता कहती है—"वत्स! मेरे दुग्ध की लाज रखना। मेरी माता की माता का उद्धार करना।" पत्नी कहती है—"प्रभो! आनंद से निर्दिष्ट मार्ग की ओर गमन करो। जन्म-भूमि की स्वतंत्रता को प्राप्त करो। यह दासी आपकी चिर-सहचरी है।" पिता कहता है—"पुत्र, जाओ! कुल की लाज रखना। मार्ग से विचलित मत होना। जननी के पाद-तल में, यदि आवश्यकता हो, तो अपने हृदय की पवित्र रक्त-धारा का अर्घ्य अर्पण करना।"

भारत में अपूर्व आवेश है। चारो दिशाएँ एक अनिर्वचनीय आभा से परिव्याप्त हो रही हैं। कल्लोलिनी से ध्वनि हो रही है—"जय जन्म-भूमि की!" गिरि-कंदरा से प्रतिध्वनि हो रही है—"जय मातृ-भूमि की!"

× × ×

मध्याह्न का समय है। भगवान् सूर्यदेव अपने प्रताप की सर्व-श्रेष्ठ सीमा को पहुँच चुके हैं। अच्छेद्य अंधकार में भी उनकी एक उज्ज्वल किरण-रेखा पहुँच चुकी है। प्रकृति अपनी विभूति का परिचय दे रही है। पुष्पाभरण-भूषिता लता के मध्य

में कोकिला कभी-कभी कूक उठती है। सुरभि समीर अठखेलियाँ कर रही है। वसंत का प्रारंभ है।

सघन वन में एक रमणीय कुटी है। कुटी चारो ओर से पुष्पित वेली-समूह से पूर्णतया आच्छादित है। इसी में बैठे हुए दो संन्यासी कथोपकथन कर रहे हैं।

एक की अवस्था ६० वर्ष की है। शीश-मंडल पर जटा-समूह, उन्नत विशाल मस्तक पर त्रिपुंड्-रेखा, कंठ में कलित रुद्राक्ष-माला, अपूर्व आभा-युक्त लोचन-युगल, बलिष्ठ एवं गौरवर्ण शरीर, दर्शक के हृदय में भक्ति-भाव उत्पन्न करते हैं। दूसरे की अवस्था २० वर्ष की है। उसका सुंदर वदन-मंडल, प्रेम-प्लावित नयन-युगल, कमनीय कलेवर और पवित्र प्रभा देखते ही बन पड़ती है। ज्ञात होता है, साक्षात् भूतभावन गैरिक-वसन-धारी स्वामिकार्त्तिकेय से वार्तालाप कर रहे हैं।

प्रथम संन्यासी—"वत्स! जननी जन्म-भूमि तुम्हारी ओर सतृष्ण नयनों से देख रही है। भारत का उद्धार केवल युवक-समाज के निःस्वार्थ त्याग पर ही निर्भर है।"

द्वितीय संन्यासी—"भगवन्! यथार्थ है। भारतीय युवक-समाज भी माता की आशा को नष्ट नहीं करेगा। हम सब जननी के मुख पर एक बार मधुर मुसकान लाने के लिये सहर्ष अपने सर्वस्व की आहुति दे सकते हैं।"

प्रथम संन्यासी—"वत्स! इस देश-प्रेम की स्रोतस्विनी को प्रत्येक हृदय-क्षेत्र में प्रवाहित करना होगा। नूतन सभ्यता

के आवरण को हटाकर स्निग्ध प्रकाश का विकास करना होगा।"

द्वितीय संन्यासी—"प्रभो! अवश्य करना होगा। भारत के प्रत्येक हृदय-मंदिर में मातृ-मूर्ति स्थापित करनी होगी। प्रत्येक हृदय-तंत्री से 'वंदे मातरम्' का पवित्र राग निकालना होगा।"

प्रथम संन्यासी—"हाँ, जब तक यह न होगा, तब तक स्वाधीनता का विचार स्वप्न-मात्र है; सुख की आशा केवल विडंबना है।"

द्वितीय संन्यासी—"गुरुदेव! इस महान् यज्ञ को सफल करने के लिये मैं अपने जीवन की आहुति दे दूँगा। भारतीय युवक-मंडली को इस पवित्र प्रेम का पाठ पढ़ाऊँगा। देश का उद्धार करने के लिये मैं उनमें अनंत शक्ति का संचार करूँगा।"

प्रथम संन्यासी—"वत्स, अवश्य ही यह सब करना होगा। स्त्री-समाज को भी संग लेना होगा। स्मरण रक्खो, रण-क्षेत्र की अधिष्ठात्री देवी भगवती दुर्गा हैं। मनुष्य का प्रयास जब व्यर्थ हो जाता है, शास्त्र की आज्ञा जब निष्फल हो जाती है, विकार-बाहुल्य से जब हृदय किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है, तब ललना अपनी वाणी से, अपनी लोचन-ज्योति से, मार्ग-भ्रष्ट को निर्दिष्ट पथ पर ले आती है। जननी के उद्धार के लिये स्त्री-समाज की सहायता अनिवार्य है।"

द्वितीय संन्यासी—"भगवन्! स्त्री-मंडल में भी प्रेम की

कल्लोलिनी प्रवाहित होगी। स्त्री-समाज भी हमारा साथ देगा। भारतीय स्त्री-समाज देश-प्रेम के लिये सदा से विख्यात है।"

प्रथम संन्यासी—"हाँ वत्स! तुम्हें उनको प्रेम सिखाना नहीं होगा; उनसे प्रेम सीखना होगा। तुम्हें केवल निर्देश-मात्र करना पड़ेगा, फिर उनसे स्वार्थ-त्याग का तत्त्व सीखना होगा।"

द्वितीय संन्यासी—"भगवन्! आज्ञा दीजिए। मैं चलता हूँ। आशीर्वाद दीजिए कि जननी के उद्धार में कृतकार्य हो सकूँ।"

प्रथम संन्यासी—"जाओ वत्स! जिस शुभ कार्य में तुमने पग दिया है, उसमें राजराजेश्वरी भगवती कल्याण-सुंदरी तुम्हारा कल्याण करेंगी। भगवान् तुम्हारी रक्षा करेंगे।"

युवक संन्यासी भारतीय युवक-समाज को प्रकृत संन्यास का महत्त्व समझाने चल दिया।

आकाश ने पुष्प-वृष्टि की। धरणी ने आशीर्वाद-लहरी से अभिषेक किया। कोकिला ने दिव्य राग अलापा। आज स्वयं सम्मोहन युवक संन्यासी का सहचर बनकर अनुवर्ती हुआ।

( ५ )

जाको जापर सत्य सनेहू; सो तेहि मिलहि न कछु संदेहू।

—महाकवि गोस्वामि तुलसीदास

जज़बए-इश्क़ अगर सच है तो इंशाअल्लाह;
कच्चे धागे में चले आएँगे सरकार बँधे।

—कस्यचित्कवेः

आज शरत्पूर्णिमा है। सुनते हैं, आज की रात्रि में सुधाकर

सुधा-वृष्टि करते हैं। क्या शैवालिनी के मृतप्राय जीवन पर भी अमृत की धारा पतित होगी ?

संध्या का समय है। सूर्यदेव पूर्णतया पश्चिम-पयोधि में पतित हो चुके हैं। श्वेतांबरा यामिनी प्राची दिशा की ओर से, अपने उज्ज्वल ललाट-बिंदु की प्रभा का प्रसार करती हुई, वेग से संसार पर निज प्रभुत्व प्रस्थापित कर रही है। पक्षि-कुल अपने-अपने नीड़ में सोहनी गाते हुए प्रवेश कर रहे हैं। कुमुदिनी हँस रही है; कली खिलखिला रही है। संसार इस समय शांत है। सांध्य वायु दिवस के कठोर परिश्रम को विश्राम दे रही है। वह कभी पादप-पुंज के मध्य में, कभी निकुंज के अभ्यंतर में, कभी कदंब के कदंब में, कभी पुष्पित-फलित वन-राजि में, कभी तमाल-ताल-राशि में, मुग्धा नायिका की भाँति, अठखेलियाँ करती हुई चली जा रही है। कभी कली से परिहास करती है; कभी लता को आलिंगन करती है, कभी कुसुम को चूमती है। आज समीर-लहरी परमानंदमयी है।

पूर्ण चंद्र अपनी मनोहर मूर्ति का दर्शन देकर चकोरी को आह्लादित कर रहे हैं। औषधियाँ आज चंद्रदेव की विभूति पर विमोहित हो रही हैं। भगवती मंदाकिनी, वात्सल्यमयी जननी की भाँति, सुधांशु को अपने प्रेममय वक्षःस्थल में धारण किए हुए दक्षिणाभिमुख चली जा रही हैं।

शैवालिनी मंदाकिनी के कूल पर बैठी है। अंबर का

सर्वस्व चंद्रिका आज अज्ञात रूप में शैवालिनी से, विश्वास-पात्री सखी की भाँति, परिहास कर रही है।

शैवालिनी के हृदय में एक अज्ञेय आनंद है। इस विरह की निष्ठुरता में भी आज प्रकृति-प्रिया शैवालिनी के मधुर ओष्ठ पर स्वतः ही हास्य की एक सूक्ष्म रेखा आ जाती है। हृदय में आज किंचित् हर्ष है। कभी-कभी वाम नेत्र का स्पंदन भी हो जाता है। आज क्यों पुनः ऐसी शकुन-लहरी का प्रादुर्भाव हो रहा है?

शैवालिनी सोचने लगी—"क्यों? क्या आज मंद भाग्य चिर-विस्मृति की कंदरा से बाहर निकलेगा? आज क्या सुरेंद्र का साक्षात् होगा? नहीं-नहीं! प्रकृति केवल क्षणिक सुख के लिये मुझसे प्रतारणा कर रही है।"

शैवालिनी बाल्यकाल ही से हिंदू-संस्कारों के मध्य पालित हुई थी। शकुन इत्यादि पर शैवालिनी अटल विश्वास रखती थी। आज दुर्दिन में शकुन द्वारा सुदिन की बात का विश्वास करके भी शैवालिनी अविश्वासिनी हो रही है। कैसा चमत्कार है! इसी को कहते हैं—विश्वास में अविश्वास।

शैवालिनी ने आँख उठाकर देखा, एक वृक्ष पर एक नीलकंठ बैठा है। शैवालिनी ने उसको संबोधन करके कहा—"पक्षिवर! यदि कहीं आज प्यारे सुरेंद्र का दर्शन पाऊँ, तो तुम्हारी सेवा का भार मैं अपने शिर पर ले लूँ। तुम्हारे दर्शन का यदि यह अभीष्ट फल हो, तो मैं नित्यप्रति अपने हाथ से

फल-मूल लाकर तुम्हें खिलाऊँ।" पक्षी उड़ गया। शैवालिनी ने मन में सोचा—"संभवतः सुरेंद्र को बुलाने के लिये गया है।"

धीरे-धीरे संध्या का प्रथम प्रहर अतीत होने लगा। चंद्रदेव का पांडु मुख श्वेत-वर्ण होने लगा। शैवालिनी ऊपर की ओर दृष्टि करके कहने लगी—"चंद्रदेव! तुम सबको देखते हो; तुम्हें भी सब देखते हैं। क्या कृपा करके सुरेंद्र से मेरा संदेश कह दोगे? लक्ष्मी-सहोदर, तुम सबको जानते हो! कहना, प्यारे सुरेंद्र! आज तुम्हारे बिना, पूर्णिमा की प्रकाशमयी रजनी में भी, शैवालिनी के लिये घोर अंधकार है!"

चंद्रदेव ने अज्ञात रूप में कुछ कहा। शैवालिनी—निर्बोध बालिका—उनके आंतरिक भाव को समझ न सकी।

प्रथम प्रहर व्यतीत हो गया। प्रकृति प्रसुप्त हो गई, किंतु, शैवालिनी! हाय, शैवालिनी आज चिंता के वशीभूत है!

शैवालिनी सोचने लगी—"इस चिंता का क्या कभी अंत नहीं है? सुरेंद्र! तुम्हारे बिना संसार शून्य है।"

उसी समय सघन वन के अभ्यंतर से गान-लहरी का आरंभ हुआ। शैवालिनी, चकित हरिणी की भाँति, सुनने लगी; सुनते-सुनते तन्मय हो गई।

गान

मातु-पद-पंकज पै बलि जैहौं।

मंजुल मधुर मनोहर मूरति, लखि जिय जननि जुड़ैहौं;

अशरण-शरण-चरण-रज परिहरि, नहिं कितहूँ अब जैहौं।

पुनि-पुनि परस, दरस भरि नैनन, हिय बिच हरष भरैहौं ;
रचि शुचि वेश देश को सुंदर, प्रिय 'हृदयेश' रिझैहौं।

शैवालिनी को वह गान-लहरी सुधा-धारा-सी प्रतीत हुई। उस उत्तप्त मरु-प्रदेश में एकबारगी पीयूष-पूर्ण कादंबिनी से वृष्टि हुई। शैवालिनी ने समझा—"इस शरत्पूर्णिमा के स्निग्ध आलोक में लताच्छादित रमणीय गिरि-तटी में, अवर-निवासी किसी यक्ष ने गाना शुरू किया है।"

हृदय में अनिर्वचनीय आनंद है ; मुख पर अपूर्व हर्ष-प्रकाश है ; गान का प्रत्येक स्वर रोम-रोम में परिव्याप्त हो रहा है।

शैवालिनी उधर ही को देखने लगी, जिधर से गान-लहरी आ रही थी। कौन नहीं जानता कि संगीत का प्रभाव चराचर पर समान होता है। जगदीश्वर भी वहीं निवास करते हैं, जहाँ उनके भक्तगण उनका प्रेम-गान करते हैं। विषधर स्वर के अधीन हैं ; मृग वीणा के वश में है; कठिन पाषाण संगीत के प्रभाव से जल-रूप हो जाता है; अंधकार प्रकाश में परिणत हो जाता है।

किंतु जिस संगीत में कविता है, जिस सौंदर्य में पवित्रता है, जिस स्वरूप में सारल्य है, जिस प्रेम में निःस्वार्थ त्याग है, उसका महत्त्व किसकी लेखनी वर्णन कर सकती है ?

शैवालिनी ने देखा, कानन के अभ्यंतर से एक नवयुवक संन्यासी, देव-किशोर की भाँति, गाता हुआ चला आ रहा है। संन्यासी के मुख पर अपूर्व आभा है, परम पवित्रता है, उदार

भाव है। चंद्रमा के स्निग्ध प्रकाश में देखा, संन्यासी उसी की ओर चला आता है।

संन्यासी अब और भी निकट आ गया। शैवालिनी ने देखा, संन्यासी अत्यंत सुंदर है। चंद्रिका संन्यासी के कलेवर को चर्चित कर रही है। शैवालिनी ने फिर एक बार नयन उठाकर देखा, संन्यासी उसी की ओर चला आता था। अब देखा, संन्यासी अत्यंत निकट आ पहुँचा है; केवल २० हाथ का अंतर है।

शैवालिनी के वाम नेत्र में स्पंदन हुआ। शैवालिनी की हृदय-परिधि मानो अपनी सीमा को अतिक्रम करने लगी। किसी अज्ञात शक्ति के वश होकर शैवालिनी उठ खड़ी हुई।

चंद्रदेव और अधिक हँसने लगे। मंदाकिनी का कलकल-नाद और भी बढ़ने लगा, कोकिला कूकने लगी। शैवालिनी का हृदय वेग से धड़कने लगा। मुख-मंडल पर प्रस्वेद-बिंदु झलकने लगे। कलेवर कंपित होने लगा।

संन्यासी और निकट आ गया। शैवालिनी भी कुछ आगे बढ़ गई! पूर्णिमा का पूर्ण यौवन है। समीर में स्वर्गीय सौरभ है। चंद्रदेव का दिव्य लावण्य है। आज आनंद का पूर्ण प्रकाश है।

चंद्रदेव क्या आज वास्तव में सुधा-वृष्टि कर रहे हैं? तो फिर सुधा में मूर्च्छा क्यों? सुधा में मद का मिश्रण है क्या?

शैवालिनी संज्ञा-हीन होने लगी। संन्यासी आगे बढ़ा। शैवालिनी ने अचेत होते-होते कहा—"सुरेंद्र!" सुरेंद्र बोले—"शैवालिनी!"

शैवालिनी चेतना-रहित होकर सुरेंद्र के वक्षःस्थल पर पतित हो गई। मूर्च्छा में आनंद है।

सुरेंद्र बोले—"शैवालिनी! क्या इस महान् व्रत में तुम सहायक होगी?"

शैवालिनी ने कहा—"हाँ जीवितेश्वर! जननी जन्म-भूमि की सेवा में, पति के वाम भाग में, मैं अपने सर्वस्व की आहुति देने को प्रस्तुत हूँ। आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।"

सुरेंद्र ने कहा—"अच्छा! तो चलो।"

शैवालिनी ने विद्रूप के साथ कहा—"चलो प्राणेश्वर! किंतु अब कभी परित्याग न करना। अपनी इस दासी को अपने चरण-तल से पृथक् मत करना।"

सुरेंद्र लज्जित होकर बोले—"प्रिये! क्षमा करो। मैंने तुम्हें नहीं पहचाना था। स्त्री-जाति उन्नति के मार्ग में बाधक नहीं, सहायक है।"

शैवालिनी ने कहा—"किंतु पुरुष की अर्धांगिनी बनकर।"

सुरेंद्र ने कहा—"अच्छा चलो! जन्म-भूमि का उद्धार करें। एक बार समस्त भारत को प्रेम-सूत्र में बाँधकर, उन्मत्तप्राय हो-कर उच्चारण करें—"वंदे मातरम्!"

गिरि-कंदरा से प्रतिध्वनि हुई—"वंदे मातरम्!"

मंदाकिनी से कलकल-ध्वनि हुई—"वंदे मातरम्!"

शब्द-गुण आकाश से शब्द हुआ—"वंदे मातरम्!"

— —

## मौन-व्रत

### ( १ )

Love walk a different way in different minds;
The fool enlightens and the wise he blinds.

—*John Dryden*

बंधूकद्युतिबांधवोयमधरः स्निग्धो मधूकच्छवि-
गंडश्चंडि चकास्ति नीलनलिनश्रीमोचनं लोचनम्;
नासाऽभ्येति तिलप्रसूनपदवीं कुंदाभदंति प्रिये
प्रायस्त्वन्मुखसेवया विजयते विश्वं स पुष्पायुधः।

—महाकवेः जयदेवस्य

प्रकृति का उपासक कहता है—"सौंदर्य और संगीत, प्रेम की दो ललित धाराएँ हैं, जो अनंत सुधा-सिंधु में जाकर पतित होती हैं।" मत्सरमय संसार का कीट कहता है—"ये विलास के दो भयंकर नद हैं, जो विष-वैतरणी में पतित होते हैं।" भगवान् जाने, दोनों में से कौन-सा मत ठीक है।

ग्रीष्म-ऋतु का सायंकाल था। भगवान् भास्कर की राज्य-श्री, साध्वी रमणी की भाँति, अपने परमाराध्य पति के साथ रसातल की अदृश्य कंदरा में प्रवेश कर रही थी। परिश्रम विश्राम के शांतिमय आश्रम में पहुँचने के लिये द्रुत गति से जा रहा था। पश्चिम-सागर में क्रमशः विलीन होते हुए तेज को देखकर चक्रवाक-युगल भय से विह्वल हो रहे थे।

पूर्व-गगन में अष्टमी के अर्ध-चंद्र का उदय हो रहा था। सायंकाल का शीतल वायु दिनकर-किरण-समूह से उत्तप्त पादप-पुंज को संजीवन-धारा के समान पुनर्जीवन दे रहा था। मैं भी सांध्य छटा की इस मनोहर मूर्ति को देखता हुआ अपनी अट्टालिका पर विहार कर रहा था। अधखिले बेले के दो-एक हार मेरे कंठ-देश में दोलायमान थे। मुख सुवासित तांबूल से परिपूर्ण था। रंगमयी विजया की अनुराग-लालिमा मेरे लोचन-युगल में छाई हुई थी। हृदय में अपूर्व आवेश था; शरीर में अलौकिक स्फूर्ति थी। समस्त पृथ्वी मुझे इस समय एक अपूर्व रंगभूमि-सी प्रतीत हो रही थी।

अट्टालिका पर एक शीतलपाटी बिछी हुई थी। उस पर विविध प्रकार के सुवासित कुसुम विकीर्ण थे। मदमाती मलय-समीर उनसे हास्य-परिहास और क्रीड़ा-कौतुक कर रही थी। उसी शीतलपाटी पर तबले की एक जोड़ी भी रक्खी हुई थी।

संगीत से मुझे बाल्यकाल ही से प्रेम है। वाद्य-यंत्रों में तबला ही मुझे विशेष प्रिय है। कई वर्षों के कठिन परिश्रम के उपरांत अब मैं अच्छी तरह तबला बजाने लगा हूँ। अच्छे गायक के साथ बजाने में अब मुझे विशेष लज्जा या आशंका नहीं होती। अब तो मेरे जीवन की स्रोतस्विनी इसी तबले की मृदुल, किंतु गंभीर, ध्वनि-धारा में मिश्रित-सी हो गई है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि तबला मेरे जीवन का परम सुख-साधन है।

मैं चंद्रमा की बढ़ती हुई कमनीय कांति को देखने लगा। मन-ही-मन कहने लगा—"ब्रह्मदेव की सृष्टि-सौंदर्य-शाला में इंदु का सिंहासन कितना ऊँचा है! कवि के अलौकिक जगत् में चंद्र-देव शृंगार-रस के साथ सदा ही प्रेम-कानन में विहार करते हैं। माधुर्य और लावण्य का कैसा विचित्र सम्मिश्रण है! सौंदर्य की विमल जाह्नवी में कलंक मानो अपनी आत्म-शुद्धि के लिये स्नान कर रहा है।" मैं आप-ही-आप गुनगुनाने लगा—

चंद! तोरी छबि पै बलि-बलि जाऊँ।

हृदय के स्वाभाविक आवेग में आकर मैं शीतलपाटी पर बैठ गया। चिर-सहचर तबले को अपनी ओर खींचकर मैंने ताल दी। उसी गंभीर तालमयी ध्वनि में ध्वनि मिलाकर मैं उच्च स्वर से गाने लगा—

चंद! तोरी छबि पै बलि-बलि जाऊँ।
कैसी सरस मनोहर मूरति, लखि जिय जात जुड़ाय;
आवहु, तोहिं हृदय-मंदिर में सादर लेहुँ बिठाय।
चंद! तोरी छबि पै बलि-बलि जाऊँ।
कुमुद-विकासिन सब सुख-रासिन, सोभा ललित ललाम;
चित-चकोर करिकै चख ऊँचे, जोहत तोहिं सुख-धाम।
चंद! तोरी छबि पै बलि-बलि जाऊँ।
सरसावहु 'हृदयेश' देश को, बरसावहु सुख-धार;

करहु सदा शुचि प्रेम-सदन में मंजुल चारु विहार।

चंद ! तोरी छबि पै बलि-बलि जाऊँ।

चंद्रदेव मेरे गान पर प्रसन्न होकर हँसने लगे। मैं भी अपूर्व अनुराग के साथ उनका अभिनंदन-राग गाने लगा। तबले की ध्वनि के साथ राग के स्वर मिलकर मानो समस्त पृथ्वी-मंडल में अपूर्व प्रणय-तरंगिणी का संचार करने लगे।

गान समाप्त हुआ, किंतु प्रतिध्वनि अभी तक अवशिष्ट थी। मेरी हृदय-वल्लरी के प्रत्येक तार से एक अपूर्व स्वर निकल रहा था। समस्त विश्व मेरे लिये संगीतमय हो रहा था। यदि कहीं यह समस्त संसार पुण्य का पावन भवन होता, यदि कहीं अनुराग-राग के साथ हृदय की वीणा का स्वर इस मनोहर सदन में व्याप्त रहता, यदि कहीं आशा की न टूटनेवाली ताल पर अभिलाषा का मनोहर नृत्य होता, तो......तो सारा जन-समूह—उस जगदाधार का समस्त कुटुंब-मंडल—एक अनिर्वचनीय आनंद के विमल स्रोत में मग्न हो जाता !

तबले पर से मैंने हाथ उठा लिया। चंद्रदेव की काम-कमनीय कांति की ओर से भी एक बार आँख हट गई। संगीत का ताल-युत स्वर भी क्रमशः स्तब्धता के विस्तीर्ण गगन-मंडल में विलीन हो गया।

उसी समय—ठीक उसी समय—सामने की अट्टालिका पर मेरी दृष्टि गई। मैंने समझा—ताल और लय मानो गले

में हाथ डालकर विहार कर रहे हैं। सौंदर्य-लहरी और संगीत-तरंगिणी मानो परस्पर केलि-क्रीड़ा कर रही हैं।

मैं स्तब्ध हो गया। अपने स्थान पर निश्चल रूप से बैठकर ललित लहरी-द्वयी के अपूर्व रस को अनिमेष लोचनों द्वारा पीने लगा। उस सम्मिलित तरंगिणी में मेरा हृदय डूब गया।

मेरा चिर-लालित हृदय—अनुराग-पोषित हृदय—मुझे एकाकी छोड़कर चला गया। मैं उसे रोक न सका। निश्चेष्ट होकर—किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर—देखता रहा। देखते-देखते वह उन्मत्त हृदय—अनुराग का वह विमल स्रोत—चंद्रदेव की उज्ज्वल ज्योत्स्ना में, उस तरंगिणी-द्वयी के चरण-तल में, पवित्र होकर उन्हीं में मिल गया। मैंने देखा—विस्फुरित लोचन-युगल से देखा—कि वह प्यारा हृदय—वह दुलारा बालक—मेरे पास से भाग गया। चली गई—वह ज्योति! वह मणि!! वह जीवन का सर्वस्व संपदा!!!

उसी समय उस ललना-द्वयी ने मुझे देखा। एक बार ही चार सम्मोहनास्त्र—कंदर्प के चार अक्षय कुसुम-शर—मेरे ऊपर छूटे। मैं बिंध गया—एकदम मुग्ध हो गया। ललना-द्वयी, ताल और लय की प्रतिध्वनि की भाँति, गत निमेष की गति की भाँति, अंतर्हित हो गई। मलयानिल के दो शरीर-धारी हिल्लोल थे, चले गए। देव-लोक के मनोहर प्राणी थे, अंतर्हित हो गए। सौंदर्य और साहित्य की दो कल्पनाएँ थीं, विलीन हो गईं।

तो क्या सौंदर्य संगीत से सबल है ?

( २ )

धारत ही बन्यो ये ही भतो,
गुरु-लोगन को डर डारत ही बन्यो ;
हारत ही बन्यो हेरि हियो,
पद्माकर प्रेम पसारत ही बन्यो ।
वारत ही बन्यो काज सबै,
अरु यों मुख-चंद निहारत ही बन्यो;
टारत ही बन्यो घूँघट को पट,
नंद-कुमार निहारत ही बन्यो ।

—महाकवि पद्माकर

"दिल में वह सख़्त-दिलों के भी जगह करता है ;
संग पर जैसे पयंबर के पड़े नक़्शे-क़दम ।"

—कविवर अमीर

ऋतुराज के सुख-राज्य में असंख्य प्रकार के सुंदर कुसुम विकसित होते हैं। सौंदर्योपासक मधुप एक बार सभी की ओर आकृष्ट होता है, किंतु अंत को रसीली रसाल-मंजरी के अपूर्व यौवन-मद से उन्मत्त होकर उसी पर सब कुछ वार देता है। गुलाब में भी गंध है, केतकी भी सुरभित है, किंतु भ्रमर—प्रेम की प्रबल सुरा से उन्मत्त भ्रमर—किसी और ही गंध पर मोहित है। मेरा मन-मधुप भी ललना-त्रयी में से अल्प-वयस्का के सुरभित यौवन-वन में विहार करने लगा। मैं एक अपूर्व मद से उन्मत्त हो उठा ; एक प्रबल सुरा की तरंग मेरे समस्त मस्तिष्क में संचार करने लगी। मेरे विश्व की अनुरागरागिनी,

मधुर मधु-प्रिय कोकिल की भाँति, एक ही स्वर अलापने लगी। वह स्वर था—"वासंती।"

मेरी वासना, मेरी लालसा और मेरी ध्यान-धारणा—तीनो त्रिवेणी-रूप में परिणत होकर एक ही प्रयागस्थली की ओर प्रवाहित हुईं। इस प्रयागस्थली का दूसरा नाम था—"वासंती।"

आशा, अभिलाषा और आकांक्षा—तीनो की कलकल-ध्वनि हृदय-गगन में टकराकर प्रतिध्वनि करती थी—"वासंती।"

नित्य सायंकाल को मैं अपनी अट्टालिका पर चढ़ता, और प्रायः नित्य ही उस ललना-द्वयी के दर्शन से लोचन कृतकृत्य होते। किंतु यह सुख निमेष-व्यापी होता। नित्य ही वे मुझे देखकर अंतर्हित हो जातीं। एक मनोहर लता के पीछे से उनकी मृदुल हास्य-ध्वनि सुनने के अतिरिक्त मुझे उनके दर्शन दुर्लभ हो जाते। मैं एकटक उसी लता को—उसी मनोरम लता को, जिसके पीछे उससे भी अधिक कोमल और मृदुल दो स्नेह-लताएँ छिपी रहतीं—देखता रहता। किंतु केवल कुसुमोज्ज्वला लता के अतिरिक्त और कुछ न देख सकता था। अंत को नैराश्य-पूर्ण हृदय लेकर नीचे उतर जाता।

हृदय-क्षेत्र में आरोपित प्रेम-पादप नित्य उनके दर्शन-जल से सिंचित होकर क्रमशः बढ़ने लगा। दिन-भर वियोग-विभावसु की कठिन किरण-माला से विद्ध होकर परिम्लान

रहता था। किंतु सायंकाल की वासंती वायु के संजीवन-स्पर्श से फिर जी हरा-भरा हो जाता—सुधाधर की सुधा-धारा फिर उसे प्रफुल्लित कर देती। यदि कहीं सदा ही वसंत रहता! यदि कहीं सर्वदा ही वासंती वायु का मृदुल हिल्लोल पादप के कलेवर को स्पर्श करता रहता!! यदि कहीं सभी समय उस मनोहर वदन-चंद्र की दृष्टि-सुधा-धारा का सुख-सिंचन इस नव-जात पादप को प्राप्त होता रहता!!!

मैं दिन-भर यही सोचता रहता कि कब संध्याकाल होगा, कब उस सुषमा-चंद्र का उदय होगा—वह वासंती-मलय प्रवाहित होगा—वह सुधा-धारा पतित होगी? दिवस का प्रत्येक क्षण मुझे एक युग के समान प्रतीत होता। किंतु हाय! सायंकाल का वह एक निमेष—अंधकारमय जीवन की वह एक क्षणिक रश्मि—कितनी जल्दी समाप्त हो जाती थी! वह चिराभिलषित ज्योति, वह मायामयी मरीचिका, वह सौंदर्यमयी विद्युद्वल्ली, हाय! कितनी जल्दी अंतर्हित हो जाती थी! वह मनोहर संयोग, वह पुण्य-अवसर, वह शुभ मुहूर्त, हाय! कितनी जल्दी, ऐंद्रजालिक कला की भाँति, किसी अज्ञेय वस्तु में विलीन हो जाता था!

मैं रोग-ग्रस्त बालक की भाँति अपने चंचल हृदय को दिन-भर सांत्वना देता था; संसार की अन्य विलासकलाओं में भुलाने की व्यर्थ चेष्टा करता था! कितनी ही बार सूर्यदेव की ओर हाथ जोड़कर प्रार्थना करता था—"प्रभो, पधारो। तुम्हारी स्थिति में वह असूर्यंपश्या कैसे बाहर आएगी?"

पाठकगण, विश्वास करना, सूर्यदेव ने कभी मेरी विनती को नहीं सुना। मेरी निर्बलता एवं प्रार्थना का उपहास करते हुए वह गगन-मंडल में डटे ही रहते थे।

धीरे-धीरे वासंती भी दो-एक क्षण मेरी ओर देखने लगी। उस मनोरम लता के पार्श्व-देश में स्थित होकर कभी-कभी यह वासंती बेलि भी मेरी ओर देखकर दो-एक कुसुम विकीर्ण करने लगी। मैं प्रेम के प्रथम सोपान पर चढ़कर उस दिव्य आसन पर—उस मनोहर स्थल पर—उस प्रेम के उच्च सिंहासन पर—पहुँचने का उपक्रम करने लगा। हाय! यह उपक्रम कहीं उपहास-मात्र न हो जाय! यह लालसा कहीं स्वप्न-मात्र न हो जाय! यह वासना कहीं कल्पना-मात्र न हो जाय! यह आशा कहीं 'दरिद्र का मनोरथ' न हो जाय!

पाठक, मैं पूछता हूँ—प्रेम का साम्राज्य क्या आशा और आशंका की सम्मिलित भित्ति पर स्थित है?

( ३ )

अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया
संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः ;
तांश्चाकृतार्थान्वियुनंक्ष्यपार्थकं
विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा।

—श्रीमद्भागवते

Yet why repine, created as we are
For joy and rest, albiet to find them only
Lodged in the bosom of eternal things ?

—*William Wordsworth*

प्रेम की मृदुल धारा चंदन-वन के अभ्यंतर में होकर ही सदा नहीं बहती। वह कभी-कभी विष-वाटिका में भी होकर अपने लक्ष्य की ओर प्रधावित होती है।

आत्म-शुद्धि के लिये आत्मा तप में प्रवृत्त होती है; अपनी उज्ज्वलता के लिये कांचन अग्नि में प्रवेश करता है। प्रेम भी अपनी सिद्धि के लिये भयंकर वियोग-वारिधि में फाँद पड़ता है। समय का चक्र कभी विश्राम नहीं लेता। ब्रह्मांड के विश्वकर्मा का यह अद्भुत यंत्र कभी नहीं रुकता। इसकी गति समान है। इसके विविध अवयवों को पुनः परिवर्तित करने की आवश्यकता भी नहीं। क्षय का प्रबल पाणि समय के कलेवर को स्पर्श भी नहीं कर सकता। समय अनियंत्रित गति से, किंतु नियंत्रित वेग से, स्वयं अमर होकर, किंतु दूसरों का विनाश देखते हुए, चला जाता है। विश्व की विशाल सेना दोनो ओर खड़ी है, बुद्धि, कला, कौशल, धन, धर्म, तप—सभी परिकर-बद्ध होकर रोकने की चेष्टा करते हैं। पाप, अत्याचार, अविचार आदि असुर-समूह वज्र-मुष्टि से प्रहार कर रहे हैं; किंतु समय—परम प्रतापी समय—अदम्य है, अच्छेद्य है। जिस समय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, जो सुख-दुःख को समान भाव से देखता है, जो उदासीन की भाँति संसार के न्याय-सिंहासन पर अविचल रूप से प्रतिष्ठित है, भूत, भविष्य, वर्तमान जिसके अनुचर हैं, जो अदृश्य है, अलक्ष्य है, किंतु प्रत्यक्ष सत्य है, जो निगम-समूह की मीमांसा के परे है, जो वेद की बुद्धि के लिये

भी अतीत है, जो सबका नियंता है, जो सर्वथा परिव्याप्त है, जो सर्वांतर्यामी है, जो सर्व-साक्षी है, वह समय—वह परम-पावन समय—सच्चिदानंद के आत्म-स्वरूप की निराकार धारणा का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

उसी समय की अकाट्य व्यवस्था के अनुसार ग्रीष्म की उत्तप्त भूमि पर वर्षा की शीतल धारा पड़ने लगी। समस्त पृथ्वी फिर सौंदर्यमयी होकर अपने यौवन-मद से इतराने लगी। उसका शस्य-श्यामल अंचल शीतल वायु के झकोरों से फहराने लगा। उसका सुमन-समूह उसके समस्त यौवन-वन को सुवासित करने लगा। उसकी सूक्ष्म मंद स्रोतस्विनी प्रबल वेग से बहने लगी। उसकी निःश्वास सुगंधित हो गई। उसके लोचन-कमल विकसित हो उठे। उसकी स्नेह-लता खिल उठी। पृथ्वी अभी-अभी अज्ञात-यौवना से ज्ञात-यौवना हुई है।

पृथ्वी के अधर-पल्लव पर मृदु हास्य है; वदन-कंज पर अपूर्व श्री है। आज धरित्री शृंगारमयी होकर अपने परम प्रेमी की बाट जोह रही है।

मेघ अभी-अभी बरस कर गया है। मैं अपनी छत पर टहल-टहलकर सांध्य गगन में इंद्र-धनुष की मनोरम छटा देख रहा हूँ। मैं देखते-देखते मन-ही-मन कहने लगा—"कैसा मनोहर है! पृथ्वी को उन्मादिनी करने के लिये कहीं कलेवर-हीन कंदर्प का यह धनुष तो नहीं है? संभव है, देवराज ने अपनी किसी अभीष्ट-सिद्धि के पुरस्कार में यह सप्त-राग-रंजित अपूर्व

सुषमामय शरासन मदन-देव को प्रदान किया हो! सचमुच ही क्या प्रत्येक प्रेमी का हृदय इस इंद्र-धनुष को देखकर ही विद्ध नहीं हो जाता।"

पाठक, हृदय से एक बार पूछो कि क्या वास्तव में इंद्र-धनुष उस मनोहर मूर्ति का—उस स्निग्ध कांति का—उस प्राण-प्रतिमा का—उस मनोरम छवि का—स्मरण नहीं दिलाता, जिसने सावन की तीज के दिन, झूले पर झूलते समय, अपने कुसुम-कोमल कलेवर को इंद्र-धनुष की साड़ी से आच्छादित किया था, जिसका सुंदर वदन-मंडल, चंद्र-मंडल की भाँति, शृंगार-रस के उद्दीपन विभाव की भाँति, कंदर्प को संसार-विजय में सहायता देने के लिये अग्रसर हुआ था। याद है पाठक, उस तीज को बीते तीन ही दिन हुए हैं!

हाँ, तो मैं अपनी अट्टालिका पर खड़ा-खड़ा यही बातें सोच रहा था। अपनी विचार-लहरी में मैं ऐसा मग्न था कि मुझे कुछ सुध ही नहीं थी। मैं विस्मृति के उस सोपान तक पहुँच गया था, जिसके आगे ज्ञाता और ज्ञेय कुछ नहीं है, जहाँ 'शिवोऽहं' की पवित्र ध्वनि के अतिरिक्त और कोई शब्द नहीं है, जहाँ आनंद के अतिरिक्त और स्थल नहीं है।

उसी समय सामने की छत पर वही मनोमोहिनी मूर्ति दिखाई दी। साथ में आज दूसरी मूर्ति नहीं थी; एक नवीना रसीली दासी थी। अब उसे बहुत दिनों से नहीं देखा, किंतु

मैं इतना कह सकता हूँ कि उसकी वह उच्च हास्य-ध्वनि अब भी कभी-कभी कानों में गूँज उठती है, उसकी मुखरता को अब भी याद करके कह उठता हूँ—"क्या बात है, लड़ैतिया !"

हृदय की आराध्य देवी को पाकर मैं हर्षोत्फुल्ल हो उठा। विना प्रयास ही हँसी आ गई। मैं अवाक् होकर उसी ओर देखने लगा। मैं स्वयं निश्चल था, किंतु मेरा हृदय—मेरा आकुल हृदय—आनंद के आवेश में उछल रहा था। मेरे पांडु मुख पर अरुणिमा आ गई। फिर कहता हूँ पाठक, विना प्रयास ही मुझे हँसी आ गई—मैं अपने आप हँस पड़ा।

हँसना—विना प्रयास हँसी आ जाना—साधारण बात नहीं है। इस कोलाहल-पूर्ण संसार में—इस मत्सर, लोभ आदि के साम्राज्य में—इस विश्वास और आशा की वधभूमि में—कितनी बार विना प्रयास हँसी आती है ? इस विश्व में बहुत-से ऐसे हैं, जिन्हें अपने स्वार्थ के लिये, अपने पापी पेट के लिये, कुत्सित जीवन की रक्षा के लिये, अपने प्रभु-समूह के मुख की ओर देखकर उनकी हँसी में योग देने के लिये हँसना पड़ता है। बहुतों को प्रवंचना और अत्याचार की रंग-भूमि में हास्य की प्रस्तावना का नाट्य करना पड़ता है। बहुतों को राजनीति के कपट-पूर्ण मार्ग को हँसी की क्षणिक ज्योति से आलोकित करना पड़ता है। इस विशाल विश्व में ऐसे बहुत कम हैं,

जो निर्बोध बालक की अकारण हँसी की भाँति—सच्चिदानंद के आनंद-सागर की धवल धारा की भाँति—बिना प्रयास, बिना उद्देश्य, हँसते हों। हँसी—वह भीषण हँसी, जिसमें अत्याचार का गुप्त आदेश है, विश्वास-घात का कपट नाट्य है, विष-वृक्ष की विष कली का प्रच्छन्न विकास है—वह हँसी, जो पाप के कृपाण की प्रथम चमक है—वह हँसी, जहाँ तात्पर्य द्व्यर्थक है, वेश व्यंग्य है, वृत्ति द्विरूप है—वह हँसी—वह भयानक हँसी—ओह! कैसी तीव्र है! कैसी भयंकर है!!

पाठक, यह भीषण स्वार्थ का वह भयंकर शर है, जिसका छिद्र कभी भरता ही नहीं; वह विषाक्त छुरिका है, जिसका व्रण आजन्म-व्यापी है; वह ज्वाला है, जिसको सुर-सरिता का तुषार-कण-मिश्रित जल-समूह भी शांत नहीं कर सकता; वह वेदना है, जिसका अतुल प्रभाव मूर्च्छा का भी उपहास करता है।

पाठक, क्षमा करना, कभी-कभी रस की बात में कुरस घोल देने का मेरा स्वभाव-सा हो गया है। रंग में भंग कर देने की परिपाटी मुझे प्रेम-आचार्य ने सिखाई है।

हाँ, तो मैं हँस दिया। उस प्राण की प्रतिमा ने भी आज दो-तीन क्षण तक अपने विकसित नेत्र-कमल और प्रफुल्ल अधर-पल्लव द्वारा मेरी 'बिना प्रयास की हँसी' का अभिनंदन किया। बिना प्रयास की हँसी ने इससे अधिक

पुरस्कार की आशा भी नहीं की थी। इसने प्रेम के परम पवित्र तपोवन का आशातीत पुण्य-फल प्राप्त किया। यह फल असंभव-संभव का प्रत्यक्ष निदर्शन था। विश्व-वैचित्र्य का अभूतपूर्व चित्र था। क्यों? पाठक, इस हँसी में वासंती का केवल अधर-पल्लव ही नहीं खिला था, उसके राग-रंजित लोचन-युगल में भी अनुराग-पद्म की मनोहर श्री का विकास हुआ था। किंतु कितने क्षण में?

मैं मुग्ध हो गया। आज की हँसी पर मैंने सब कुछ वार दिया। सर्वस्व—हाँ सर्वस्व! लोक पहले ही चरणतल में समर्पण कर दिया था, आज परलोक भी न्योछावर कर दिया। अब भी शंभु-पूजन के उपरांत यही प्रार्थना करता हूँ—"प्रभो, वासंती पर सदा सुख-वसंत छाया रहे।"

लड़ैतिया ने पास आकर कहा—"कहिए, आजकल आप छत पर बहुत घूमा करते हैं? क्या आपका मिज़ाज गरम है?" मैंने मनोरम लता के अभ्यंतर से एक मृदुल हास्य-ध्वनि सुनी। मैं लड़ैतिया की प्रगल्भता पर और भी चकराया! मैंने कहा—"क्यों? क्या अपनी छत पर भी मेरे घूमने में किसी की हानि है?" लड़ैतिया ने अब की बार गंभीर होकर कहा—"हाँ! किंतु जिनकी हानि है, वह तो आज रात को...चली जायँगी।"

लड़ैतिया ने मेरे मुख की ओर देखा। मैं एकबारगी आकुल हो उठा। हृदय थामकर बैठ गया।

मैं अचेत हो गया। पता नहीं, वे कब चली गईं। मुझे धाराबाही मेघ-मंडल ने जगाया। मेरे चारो ओर अंधकार था। रात्रि के ८ बज चुके थे।

वह रात्रि मुझे कालरात्रि-सी प्रतीत हुई। सचमुच ही क्या वज्र और वियोग एक ही वस्तु से बने हैं?

( ४ )

आसनतलेर माटिर परे लुटिए रोबो।
तोमार चरण-धूलाय धूलाय धूसर होबो।

—कवींद्र रवींद्र

His weqs arm'd his senses steal upon him.
And through the fenceless citadel—the body—
Surprise that haughty garrison—the mind.

—*Herbert*

वर्षा बीत गई। शरद्-ऋतु आ गई। आकाश में चंद्रदेव, शांत सरिताओं के सरोज-सुवासित विमल जल में, अपने परम लावण्य को देखकर हँसने लगे। पृथ्वी के यौवन का वह प्रथम वेग अब नहीं है। इस समय का सौंदर्य स्थिर, शांत और अधिकतर स्निग्ध है। यौवन-वाटिका में बाल-चापल्य का वह उच्च हास्य अब नहीं सुनाई पड़ता; अब सौम्य भाव की केवल मधुर मुसकान ही समस्त सौंदर्य-वन को अत्युज्ज्वल बनाती है। इस समय पृथ्वी, सलज्जा कुल-वधू की भाँति, केवल घूँघट के पट ही में किंचित् मुसकाती है।

पृथ्वी अब पूर्णयौवना है। उसके सारे अंग परिपुष्ट हो

गए हैं। वह मानो माधुर्य की शांत, विमल लहरों में स्नान करके अभी-अभी निकली है।

वासंती भी...से लौट आई है। हृदय का दुर्दमनीय वेग भी शांत हो गया है। अब फिर चंद्र का उदय होने लगा है। उनकी और मेरी छत मिली हुई है। लड़ैतिया अब छत पर बहुत देर तक खड़ी रहती है, और कभी-कभी मेरे और वासंती के विषय में व्यंग्य-परिहास भी किया करती है। किंतु मनोरम लता के अभ्यंतर से केवल एक या दो बार मधुर हास्य-ध्वनि के अतिरिक्त कभी उस ललना-ललाम की ललित वाणी को—सौंदर्य-वल्लकी के दो-एक मनोहर स्वरों को—वसंत-कोकिला की दो-एक 'पंचम' की कूकों को—राज-राजेश्वरी भगवती कल्याण-सुंदरी की दो-चार नूपुर-ध्वनियों को—सुनने का कोई भी अवसर मुझे अब तक न मिला।

दिवस का तृतीय प्रहर है। शीतल वायु चलने लगी। एक हलका-सा काश्मीरी शाल कंधे पर डाले मैं अपनी अट्टालिका पर—प्रेम की प्रथम तथा अंतिम लीला के एक-मात्र क्षेत्र पर—अपनी अभिलाषाओं की उत्पत्ति और मरण की एक-मात्र भूमि पर—अपने सुख और दुःख की एक-मात्र रंगशाला पर—टहल रहा था। बहुत दिनों के उपरांत आज मैंने अपने चिर-सहचर पर हाथ फेरा। एकदम ध्वनि हुई—"ता धिन धिन ता..." मैं भी आवेश में आकर गाने लगा—

गान

आजु कहूँ जो मैं तोहि पाऊँ,
चुनि-चुनि कुसुम ललित कोमल तनु रुचि-रुचि आज सजाऊँ;
हिय-अभिलाष-सुमन-माला को तो उर पै पहराऊँ।
निज लोचन के सरस राग सों तुव पद-कंज रचाऊँ;
पुनि 'हृदयेश' हृदय-कविता के विनय मधुर सुर गाऊँ।

पश्चिम-प्रवासी सूर्यदेव की किरण-माला पर आरूढ़ होकर मेरा गीत गगन-देश में पहुँच गया। वायु-मंडल के संयोग से प्रत्येक वस्तु में गान की सहस्र-सहस्र प्रतिध्वनियाँ होने लगीं। मैंने विचार किया—"स्वयं भगवती प्रकृति परमपुरुष को, शृंगार करने के लिये, अपनी विश्व-व्यापिनी प्रीति-कविता के प्रत्येक स्वर में बुला रही हैं। आज अपने हृदय की अनंत विभूति लेकर प्रकृतिदेवी पुरुषोत्तम की चरण-वंदना के लिये लालायित हो रही हैं।"

मेरा यह स्वभाव है कि मैं तनिक-सी बात को भी सोचने लगता हूँ। रमेशचंद्र की ध्वनि ने मेरी ध्यान-लहरी का अवरोध कर दिया।

रमेश मेरा प्रिय मित्र है। वह मेरे जीवन की सभी घटनाओं से परिचित है। किंतु मैंने किसी अज्ञात कारण-वश—एक अद्भुत आदेश के वश—आज तक अपनी इस प्रेम-लीला का वर्णन उससे नहीं किया था। मेरी प्रेम-लीला के जन्म को अभी साढ़े चार मास हुए हैं, और रमेश भी इतने ही समय के उपरांत कॉलेज से दशहरे की छुट्टी में आया है। इन

सब बातों के वर्णन न करने का यह भी एक मुख्य कारण है। अभी-अभी साढ़े तीन बजे की गाड़ी से रमेश उतरा है। वह घर से सीधा पहले मेरे ही पास आया है।

आते-ही-आते रमेश ने कहा—"भाई, किस चिंता में हो?" मैंने कुछ उत्तर न दिया। एकदम उठकर रमेश के कंठ से लिपट गया। सच्ची मैत्री का परस्पर आलिंगन कितना सुखद होता है, सो वर्णन करने की शक्ति इस तुच्छ लेखक में नहीं।

आज रमेश के कलेजे से लिपटकर वह शांति प्राप्त न हुई, प्रत्युत किसी अलक्ष्य वैकल्य से मैं अभिभूत हो गया।

ठीक उसी समय—हम दोनो के भुज-पाश से मुक्त होते ही—पास की छत पर बासंती का पदार्पण हुआ। साथ में लड़ैतिया भी थी।

लड़ैतिया को देखकर रमेश ने परिचित स्वर में कहा—"लड़ैतिया, अच्छी तो है?" लड़ैतिया ने कुछ हँसकर कहा—"हाँ रमेश बाबू, तुम तो अच्छे हो? अभी आए हो क्या?" रमेश ने कुछ हँसकर कहा—"हाँ, अच्छा ही हूँ। इसी गाड़ी से आया हूँ।" यह हँसी विषाद-पूर्ण थी। रमेश के वदन-मंडल पर चिंता की एक सूक्ष्म रेखा परिलक्षित हुई। रमेश ने फिर पूछा—"और सब तो अच्छी तरह हैं?" अब तक वह मनोरम लता स्पंद-हीन थी, अब किंचित् हिली। मैं इस रहस्यालाप को कुछ भी न समझ सका—इस कौतूहल को कुछ भी न जान सका।

रमेश ने मनोरम लता के कंप को देखा। एक रूखी हँसी के साथ—निराशा की अंतिम हँसी की भाँति—मरणोन्मुख की अंतिम मुसकान की भाँति—रमेश ने उस कंप का अभिनंदन किया। लड़ैतिया बोली—"रमेश बाबू, इससे आपका अभिप्राय?" रमेश ने मानो सोते से जागकर कहा—"ठीक है! कुछ नहीं।"

रमेश मेरी ओर आ गया। लड़ैतिया उधर चली गई। कौतूहल और चिंता दोनो ही कल्पना के क्रोड़ में पले हैं।

( ९ )

Rare as is true love, true friendship is still rare.

—La Ro:he foucamd

तुझसे बेज़ार हूँ, जाता हूँ सुए मुल्के-अदम ;
मुँह न दिखलाए ख़ुदा फिर मुझे दुनिया, तेरा।

—कविवर रिंद

रमेश की ऐसी अवस्था देखकर मैं उससे कुछ पूछ न सका। सच तो यह है कि मैंने किसी अज्ञात कारण-वश इस विषय का पुनरुत्थान करने की स्वयं भी चेष्टा नहीं की।

थोड़ी देर बाद मैंने रमेश से कहा—"रमेश, अब की बार तुम दुबले हो आए।" रमेश ने कुछ विरक्त स्वर में कहा—"जीवित लौट आया, यही क्या थोड़ा है!"

मैंने सोचा—"रमेश किसी और जगत् में है।" वाणी हृदय की दुभाषिया है।

× × ×

आज की समस्त घटनाओं पर मैं विचार कर रहा हूँ। अर्ध निशा व्यतीत हो चुकी है। निर्बोध जगत् निस्तब्धता की गोद में पड़ा हुआ है। उसके वक्षःस्थल को विदीर्ण करने के लिये घातक घात लगा रहा है। सावधान!

मैं इधर-से-उधर करवटें लेता हूँ, किंतु आज निद्रा को अभंग मान है। आज निद्रा रूठ गई है।

किंतु कल्पना इस दुःख के समय भी साथ है। उसके अलौकिक जगत् में भी आज आशंका का प्रभाव है। उसकी प्रजा—भाव-समूह—भय के चिह्न प्रकट कर रही है।

ठीक उसी समय मेरे कमरे का दरवाजा खुला। रमेश ने उन्मत्त की भाँति प्रवेश किया। आते ही कहने लगा—"सोते हो? नहीं-नहीं, तुम सो ही नहीं सकते। मैं जानता हूँ, तुम भी मेरी भाँति निद्रा के आनंदप्रद आश्रय से वंचित हो।"

मैं उठ बैठा। घबराकर मैंने कहा—"रमेश, इस समय तुम कहाँ?" रमेश पैशाचिक हास्य के साथ बोला—"क्यों? क्या अब मुझे मध्य-रात्रि के समय तुम्हारे शयन-कक्ष में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है?" मैंने उसका शीतल हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"रमेश! क्या कहते हो? तुम सब समय आ सकते हो।"

रमेश शय्या पर बैठ गया। कुछ देर बाद बोला—"मैं

जानता हूँ ! मैं सब जान गया हूँ !! छिपाना व्यर्थ है। बताओ, तुम वासंती को प्यार करते हो ?" रमेश की आँखें जल रही थीं। उन्माद का प्रथम लक्षण रमेश में दिखाई पड़ता था। मैं स्तब्ध हो गया; आशंका से हृदय धड़कने लगा।

रमेश फिर पैशाचिक हँसी हँसकर बोला—"बोलो मित्र, क्या तुम वासंती को प्यार करते हो ?" मैंने स्थिर होकर कहा—"हाँ ! किंतु......" बीच ही में रमेश बोला—"जानता हूँ ! 'किंतु' के आगे का भी वृत्तांत जानता हूँ। अब तक तुम्हारा उससे कभी वार्तालाप नहीं हुआ।" मैंने गंभीर होकर कहा—"रमेश, सचमुच मैंने उसको कभी पूर्ण रूप से देखा भी नहीं।" रमेश ने कहा—"अच्छा, अब शपथ खाओ—मेरे मस्तक पर हाथ रखकर शपथ खाओ—कि अब तुम अपनी इस प्रेम-लीला को और विस्तार नहीं दोगे; सदा के लिये वासंती के साथ मौन-व्रत धारण करोगे।"

मैं काँप उठा—समस्त सत्य उज्ज्वल अक्षरों में मेरी आँखों के सामने जगमगाने लगा। रमेश वासंती का निराश प्रेमी है !

मैत्री की स्निग्ध मूर्ति मेरी मानसिक आँखों के सम्मुख कहने लगी—"शपथ खाओ, मौन-व्रत धारण करोगे।" मैंने रमेश के सिर पर हाथ रखकर कहा—"मौन-व्रत धारण करूँगा।" शयन-कक्ष, साक्षी-रूप में, प्रतिध्वनि कर उठा—"मौन-व्रत धारण करूँगा।" उस रात्रि के द्वितीय प्रहर ने भी

तत्काल अपने अदृश्य इतिहास के उस पृष्ठ पर, जिस पर मेरी जीवनी की सारी घटनाएँ उल्लिखित थीं, लिख लिया—"मौन-व्रत धारण करूँगा।

संभवतः प्रेम की सम्मिलित धारा में पीयूष की अपेक्षा गरल का ही अंश अधिक है।

---

## उन्मत्त

### ( १ )

Oh ! where shall turn ?
To whom return
The heart that burns,
The breast that yearns ?
Oh ! Unrequited Love !
Oh ! innocent strucken Dove !

—*Swami Ram*

None is discreet at all times, no, not Jove;
Himself, at one tune, can be wise and love.

—*Herrick*

शांति ! शांति !! समस्त प्रकृति इस समय शांत है। निद्रा की अदृश्य कादंबिनी का अभेद्य अंधकार सकल विश्व में परिव्याप्त हो रहा है।

निद्रा ! निद्रा !! निद्रा क्या है ? विस्मृति ! विकार-रहित विश्राम की मधुर विस्मृति !! आह ! युग बीत गया ! वह प्यारी निद्रा ! वह सम्मोहिनी विस्मृति !! कहाँ गई ?

इस विशाल विश्व में कितने प्राणी निद्रा की मधुर दशा का अनुभव करते हैं ? कितने जीव विकार-शून्य होकर अपूर्व, आनंदमयी विस्मृति की अंक-स्थली में विश्राम करते हैं ?

हाँ ! सोते हैं। संसार के मोह से निर्मुक्त प्रकृत योगी, बालक और दिवस-भर के परिश्रम से परिश्रांत प्रकृति-पोषित कृषक जन !!

धनी ! समाज के सिरमौर ! न्याय के कर्णधार ! नहीं ! नहीं !! ये भगवती निद्रा की वात्सल्यमयी गोद में नहीं जाते ! इन्हें समय नहीं ! मस्तिष्क अनंत विचार-विभ्राट् का केंद्र है। हृदय असंख्य विकार-समूह का स्थल है। पवित्र आत्मा—भगवान् का तेजोमय रूप—जीवन की पवित्र पूर्ण ज्योति—मोहमयी वृत्ति - विभावरी के सूचीभेद्य अंधकार - राशि में निस्सहाय होकर, कलुषित होकर, पिंजर-बद्ध पक्षी की भाँति, तड़फता है। फिर निद्रा कहाँ ! निद्रा के लिये उनके निकट अवकाश नहीं ! निद्रा से उनका घोर वैर है !!

दिवस कोलाहल में व्यतीत हुआ ! अर्धनिशा विद्युत्प्रकाश में, विशुद्दामयी ललनागण के सहवास में, उन्मादिनी वारुणी के विलास में, और हर्ष के आभास में बीती, तब निद्रा कहाँ ! उत्तप्त मस्तिष्क-मरु में निद्रा-नदी की शीतल तरंग-माला कहाँ !!

वे सोते हैं ? नहीं ! नहीं !! निद्रा का नाट्य करते हैं ! अत्यंत कोमल दुग्ध-फेन-निभ शय्या पर अपने कलेवर को स्थापित करते हैं ! उत्तप्त मस्तिष्क को विश्राम देने के लिये वे कोमल तकिए पर रखते हैं ! किंतु अर्ध-यामिनी में एक बार भी, कुछ काल के लिये, निद्रा का सहवास नहीं पाते !! मध्य-रजनी से उषाकाल तक वे केवल विकारमयी दशा में, विश्राम-रहित होकर, भयंकर स्वप्न देखते हैं।

केवल दोपहर की विकारमयी अज्ञानावस्था में, बार-बार रोमांचकारी रौरव और बीभत्समय श्मशान के काल्पनिक

चित्रों से भयभीत होकर वे चौंक उठते हैं ! केवल एक साधारण-से वायु के झकोरे से जागकर वे दस्यु की तीक्ष्ण छुरिका के भय से विकट चीत्कार करके शय्या को त्याग देते हैं !

ओह ! संसार ! संसार !! संसार क्या है ? अनंत विस्मृति ! निद्रा की परमोत्कृष्ट दशा !! किंतु हाय ! इस दशा में भी कितने विकार हैं ? कितने दुःख हैं ?

कितने हृदय परिताप-पन्नग के तीक्ष्ण दंशन से व्याकुल हो रहे हैं ? कितने निर्बोध बालक माता के चर्म-शेष स्तन-युगल में दुग्ध के अभाव से मरणोन्मुख हो रहे हैं ? हाय ! कौन जानता है, कितनी आत्माएँ असह्य ज्वाला में जल रही हैं ?—निराशा की चिता पर, मृतक हृदय को अंक में स्थापित करके, कितनी अभिलाषाएँ सती हो रही हैं ? हाय ! हाय !! कैसी भयंकर ज्वाला है ! कैसी तीव्र वेदना है !! कैसा नैराश्य-पूर्ण मरण है !!!

किंतु आह ! यामिनी ! चैत्र-शुक्ल की रजतमयी रजनी !! कैसी सुंदर है ! नक्षत्र-खचित अंबर ! चंद्रिका-चर्चित कलेवर !! आज यौवनमयी यामिनी का अपूर्व लावण्य है ! अपूर्व वेष है !!

यामिनी ! निद्रा की प्राण-प्रिया सहचरी !! कुमुदिनी की स्नेहमयी सखी !! तुम अत्यंत सुंदरी हो ! अत्यंत मनोहारिणी हो !!

क्या बक रहा हूँ ! मैं उन्मत्त हूँ ! उन्मत्त ! हाँ ! क्या वास्तव में मैं उन्मत्त हूँ ? हाँ, सारा विश्व तो अवश्य उन्मत्त ही कहता है !

हाँ, संसार की दृष्टि से बहुत-से प्राणी उन्मत्त हैं। रण-रंग

में उल्लास और आवेश की तरंगों में प्राण-परित्याग करनेवाला वीर युवक उन्मत्त है ! संसार की सेवा के लिये सर्वस्व-त्यागी महात्मा उन्मत्त है ! धधकती हुई चिता की आकाशगामिनी शिखा-माला पर आरूढ़ होकर स्वर्गारोहण करनेवाली पति-गत-प्राणा सती उन्मादिनी है ! प्रेम के कारण प्रज्वलित अग्नि में फाँद पड़नेवाला युवक उन्मत्त है !!

और बुद्धिमान् ! बुद्धिमान् वे हैं, जो पूर्व-गौरव की स्मृति को जलांजलि देकर, शत्रु को पीठ दिखाकर रण-क्षेत्र से भाग आते हैं !—जो अपनी मातृभूमि के साथ विश्वासघात करके, स्वार्थांध होकर, धन-कुबेर का आसन ग्रहण करते हैं ! वे बुद्धिमती हैं, जो अपने यौवन की कृत्रिम कांति से अनेक सदाचार-भ्रष्ट लोलुप युवकों की प्रशंसावली प्राप्त करती हैं !!

मैं उन्मत्त हूँ। मैं जगदीश से विनय करता हूँ, मैं सर्वदा उन्मत्त बना रहूँ ! अहा, मैं उन्मत्त हूँ, उन्माद में भी आनंद है !! मदिरा में रति है ! इस उन्मत्तकारिणी सुरा में कैसा रंग है ! कैसी आनंदमयी तरंग है !!

विषाद ! आह ! वेदना !! कैसी तीव्र पूर्व-स्मृति है ! कैसा उत्तप्त अंगार है ! कैसा भयंकर त्रिशूल है !! ओह ! कैसी विषाक्त छुरिका है ! कैसी कठिन कृपाण है।

मंदाकिनी ! मंदाकिनी !! जगज्जननी !!! आह ! तुम्हारे वक्षःस्थल में कितनी व्यथित आत्माओं ने शांति पाई है ! विरह-विधुरा वनिता, प्रेम-परितप्त युवक, अपमानित आत्मा,

दग्ध हृदय, लांछित गौरव,—इन सबके लिये तुम आश्रयदायिनी हो ! मा ! तुम्हारी गंभीर धारा में चिर-विस्मृति का निवास है ! मातः ! स्नेहमयि !! इसी से तुम्हें निर्वाणदायिनी कहते हैं ! मा ! कहो ! क्या निर्वाण और विस्मृति एक ही पदार्थ हैं ?

चंद्रदेव ! तुम हँस रहे हो ! हँसो ! जी-भर हँसो ! देखूँ ! तुम्हारे हास्य की सुधा-धारा क्या इस हृदय की प्रबल अनल को शांत कर सकेगी ?

कुमुद-बंधु ! तुम ओषधि-वर्ग के पोषक हो ! वे तुम्हारी कला पान करती हैं, अतः तुम्हारी कृतज्ञ हैं !! जानते हो, नैराश्य-पूर्ण हृदय के मर्माघात की कौन-सी ओषधि है ? कौन-सी संजीविनी प्रबल प्रेम-शक्ति हृदय में पुनः प्राण-प्रवेश करा सकती है ? चंद्रदेव ! बोलो ! बताओ ! हाय ! अपने अनन्य प्रेमी को तो तुमने तप्त अंगार-भक्षण बताया है ! सुधा ! नहीं-नहीं ! विष ! प्रचंड हलाहल ही क्या इसकी ओषधि है ।

ओफ़् ! मैं उन्मत्त हूँ ! उन्माद ! उन्माद ! आशा ने छोड़ दिया ! हृदय ने परित्याग कर दिया ! विश्व ने विस्मृत कर दिया ! और हाय—हाय ! उस प्रेम की पुत्तलिका ने भी परिहार कर दिया ! किंतु भाई उन्माद !! प्यारे उन्माद !! मेरे अन्यतम उन्माद !!! कहीं तुम भी न परित्याग कर देना !!

( २ )

कहिबे को कछू न, कहा कहिए,

मग जोवत-जोवत ज्वै गयो री ।

बन तोरत बार न लाई कछू,
तन ते वृथा जोवन च्वै गयो री।
कवि ठाकुर कूबरी के बस ह्वै,
रस में बिष बासी बिसै गयो री।
मनमोहन को हिलबो-मिलबो
दिन चारि की चाँदनी ह्वै गयो री।
—कवि ठाकुर

He had got a hurt, of the inside of a dead lier sort.
—*Samuel Butler*

मेरा मस्तिष्क उत्तप्त मरु-प्रदेश की भाँति जल रहा है! मेरा हृदय-सागर प्रखर वाडवानल की ज्वाला से दग्ध हो रहा है!! ओफ़्! अभेद्य अंधकार! अनंत कंटकाकीर्ण मार्ग! घनघोर मेघ-मंडल!! धारा-वाही जल-प्रपात!! हाय! कैसे जाऊँगा?

जाऊँगा! जाऊँगा अवश्य!! तुषार-मंडित हिमाचल का उल्लंघन करके! अनंत महासागर को पार करके!! ओफ़्! मरण! निश्चित मरण!!

निराशा! दूर पिशाचिनी!! छोड़! मेरी प्यारी आशा! मेरे हृदय की पारिजात-कली!! छोड़-छोड़! कोमल-कलेवरा आशा पर दया कर! निष्ठुर-हृदये! निराशे! आशा को परिमुक्त कर! ले यह प्राण—आशा के निरंतर अनुगामी प्राण—तेरे समर्पण हैं।

नहीं! नहीं! जाओ! आशे! विधि का अखंडनीय विधान ही ऐसा है। ग्रीष्म का भीष्म वायु कुसुम-कली का विनाश

करता है ! शिशिर का तीव्र तुषार मलिंद-मोहिनी मराल-माला-मंडिता कमलिनी का प्राण-नाश करता है ! हाय ! आशे ! तुम हृदय का हृदय थीं; प्राण का प्राण थीं; स्वर्ग की मंदाकिनी थीं; कल्प-वृक्ष की कोमल कली थीं—हाय ! तुम मेरा सर्वस्व थीं ।

कौन जानता था, अकाल में वज्र-पात होगा ! कुसमय में कुचक्र होगा !! हृदय की कली अधखिली ही मुरझा जायगी ! जीवन की आलोक-माला एकबारगी निराशा-वायु के झोंके से बुझ जायगी !!

कैसा भयानक है अंधकार ! सारा विश्व अंधकारमय हो गया !! मणिधर की मणि खो गई ! कृपण का आजन्म-संचित विभव लुट गया । हृदय की एक-मात्र दुहिता—एक-मात्र अभिलाषा—एक-मात्र कल्पना—एक-मात्र चिंता—एक-मात्र आशा—आज अंधकार में अदृश्य हो गई !! देखते-ही-देखते मैं लुट गया !!

हृदय ! रोओ ! आज तुम एकाकी हो ! तुम्हारे लोचन-युगल की ज्योति जाती रही; तुम्हारे अभ्यंतर की शक्ति लुप्त हो गई !! तुम्हारी श्री समाप्त हो गई ।

हृदय ! दग्ध हृदय !! तुम्हारे आकाश की कलित कौमुदी अंतर्हित हो गई ! तुम्हारा दूरवर्ती लक्ष्य—तुम्हारा प्रभा-पूर्ण नक्षत्र—अंधकार के अच्छेद्य आवरण में छिप गया ! हाय, हृदय ! तुम बड़े अभागे हो ।

हृदय ! तुम वास्तव में बड़े अभागे हो ! तुम सर्वस्व-हीन हो गए ! तुम्हारा संचित कोष—हृदय के अनंत विभव से परिपूर्ण कोष—आज लुट गया। रोओ ! हृदय ! जी-भरकर रोओ ! रोने का यही अवसर है !! फूट-फूटकर रोओ ! बिलख-बिलखकर रोओ !!

परितप्त प्राण ! जलो ! अपने पाप का प्रायश्चित्त करो ! पाप का ! हाय ! पाप का !! प्रेम और पाप ! देव और दानव !! क्षमा करना प्रेमदेव ! इस उन्मत्त की आत्मिक निर्बलता को क्षमा करना ! पवित्र प्रेम ! अशौच पाप !! कितना अंतर है ! कितना भेद है !! किंतु परिणाम......हाय ! परिणाम ! परिणाम है—परिताप।

प्राण ! निष्ठुर प्राण ! तुम पिशाच हो ! इसी से निराशा-निशाचरी को तुमने हृदय में स्थान दिया ! विश्वास-घातक ! ओफ़् !!

प्राण ! भगवान् की पवित्र श्वास ! क्षमा करना ! हृदय के उद्वेग में तुम्हें कुवचन कहे हैं, उन्हें क्षमा करना। तुम हमारे नहीं हो, पराए हो। तुम्हें कुवचन कहने का हमें अधिकार नहीं।

प्राण ! जाओ ! वहीं जाओ, जहाँ प्राणेश्वरी हैं ! जाओ, उनके चरण-कमल पर, चंचरीक की भाँति, बलिहार हो जाओ। प्राण ! तुम वायु-स्वरूप हो ! जाओ ! उनकी चरण-रज को शीश पर चढ़ाओ ! जाओ ! प्राण ! उनके पादपंकज के पराग से प्रमत्त होकर अपने प्राण अर्पण कर दो !

प्राण ! अपने प्राण को खोजो ! अपनी पारिजात-मंजरी को, अपनी उर्वशी को, अपनी मंदाकिनी को ढूँढ़ो। प्राण ! तुम्हें कल कहाँ !

चंचल सारंग की रँगीली आँखों में, तरल कमल की कोमल पाँखुरी में, कोकिल के पंचम स्वर में, कलहंस के कलकंठ में, प्रभाती की लय में, सोहनी की ध्वनि में, कविता के अलंकार में, रस की कल्लोलिनी में, चैत्र की चंद्रिका में ढूँढ़ो ! प्राण ! निरंतर ढूँढ़ो।

प्राण ! ढूँढ़ो ! मराल-माला में, मुक्तावली में, हीरक-हार में, क्षीर-निधि में, हृदय-निकुंज में ढूँढ़ो ! प्राण ! अविचल होकर ढूँढ़ो।

*प्राण ! जीवन-धन ! देखो ! विचलित न होना ! धैर्य-त्याग न करना !*

कमल की कमनीयता में, सुमन की सुकुमारता में, लवंग-लता के लावण्य में, माधवी के माधुर्य में और मलयानिल के मंद प्रवाह में ढूँढ़ो। एकाग्र-चित्त होकर ! तन्मय होकर, आत्म-विस्मृत होकर ढूँढ़ो। अवश्य ही प्राणेश्वरी प्राप्त होगी।

प्राण ! देखो, कहीं कैलास की कांचन-कंदरा में, कलित कदली के कानन में, कोमल कदंब के कदंब में, मालती के मंडप में, पुष्पों के पुंज में तो प्राण-प्रिया नहीं छिपी है ! ढूँढ़ो ! ढूँढ़ो ! अभ्यंतर के चक्षु से ढूँढ़ो।

प्राण ! संज्ञा-शून्य प्राण !! जाग्रत् होओ ! कर्तव्यपथ की

ओर अग्रसर हो ! ढूँढ़ो ! मूर्च्छा ! देवी मूर्च्छा ! जाने दो। छोड़ दो ! प्राण के ऊपर से अपना सम्मोहन हटाओ ! प्राण को अपना लक्ष्य देखने दो ; प्राण को अपना अभीष्ट सिद्ध करने के लिये जाग्रत् होने दो।

( ३ )

Resolve to ruin or to rule the stat.

—*John Drydon*

आमार ए प्रेम नयत भीरु नयत हीन-बल,
शुधु कि ए व्याकुल होए, फेलबे अश्रुजल ?

—रवींद्र

मैं उन्मत्त-राज हूँ। सघन वन मेरा दुर्गम दुर्ग है ! अंबर मेरा वितान है ! भूमि मेरी शय्या है ! सूर्य और चंद्र मेरे प्रदीप हैं। और मैं उन्मत्त—नहीं-नहीं—उन्मत्त-राज हूँ।

मेरी सहगामिनी थी—महारानी आशा ! निराशा-पिशाचिनी उसे बंदी करके ले गई है ! आज रत्नाकर का उल्लंघन करके, प्रेम के अमोघ शस्त्र को लेकर मैं रण-क्षेत्र में जाता हूँ !! मैं पिशाचिनी का वध करूँगा ! मैं अपनी हृदय-लक्ष्मी को ले आऊँगा। और फिर, निराशा-पिशाचिनी के गृह में रहने के कारण, परित्याग कर दूँगा !!

हृदय ! लौह बन जाओ ! प्राण ! पाषाण हो जाओ ! आज पिशाचिनी से संग्राम होगा ! सेनापति विश्वास ! वृत्ति-सैन्य ! प्रस्तुत हो जाओ ! आज का भीषण युद्ध चिर-स्मरणीय होगा। आज की विजय का फल होगा—प्रकाशमय आनंद !

और पराजय का परिणाम होगा—अनंत विषाद का कठोर बंदीगृह !

साधना ! सहायक हो ! कल्पना ! कृपाण धारण करो ! अभिलाषा ! आओ ! चिंता ! चलो ! आज रण-क्षेत्र में परीक्षा देनी होगी। आज दो में से अवश्य एक प्राप्त करना होगा—विजय अथवा मृत्यु ! अनंत स्वर्ग अथवा देव-दुर्लभ निर्माण-पद !

जीवन-ज्योति-निर्वाण के साथ ही निर्वाण-पद की प्राप्ति है ! अधिक तेज में अलौकिक आनंद की आभा है। आज उन्मत्त-राज दोनों में से एक अवश्य प्राप्त करेंगे। आज उन्माद और विषाद का संग्राम है ; आशा और निराशा की पक्ष-परीक्षा है। ज्योति और अंधकार का प्रचंड युद्ध है। वृत्ति-सैन्य का व्यूह बनेगा ! साधना, कल्पना, अभिलाषा और चिंता—ये चारो महारथी चारो द्वारों के रक्षक होंगे। और, भाग्य-विधाता हैं—राजराजेश्वर भगवान् प्रेम-प्रभु !!

सामंतगण ! एक बार 'जय-जय सुंदरते !' की गगन-भेदी ध्वनि से मेदिनी का कलेवर कंपित कर दो ! प्रेम का पवित्र मंत्र-राज आज युद्ध में तुम्हारी रक्षा करेगा ! पवित्र प्रेम-रस, ब्रह्म-कुल के आशीर्वाद-जल की भाँति, आज कवच को अभेद्य बना देगा। 'जय-जय सुंदरते !'

अंबर-प्रदेश में पुरंदर-विलासिनी, पारिजात की विजय-माला लेकर, इस युद्ध को देखने आई है ! गंधर्व-किशोरिकाएँ नंदन-

कानन से कुसुम चयन करने लाई हैं !! उन्नत मस्तक ! गौरवान्वित शीश-मंडल !! इस पुष्प-वर्षा के लिये प्रस्तुत हो जाओ !!

अभिलाषा ! तुम लालसा से युद्ध करना ! साधना ! तुम वासना का शिर काटना ! कल्पना ! तुम वेदना का अभिमान चूर्ण करना ! चिंता ! तुम ज्वाला का गर्व शांत करना ! महारथी ! मनोरथ पर आरूढ़ होओ !!

और सेनापति विश्वास ! विश्व-विजयी वीर ! तुम अपने हाथ से मायाविनी पिशाचिनी का वध करना । जाओ सेनापति भगवान् तुम्हें अजेय करें !

सेनापति विश्वास ! धैर्य तुम्हारा अनुचर है ! आत्मिक बल तुम्हारा अनुयायी है ! पवित्रता तुम्हारी पतिव्रता पत्नी है ! उसी का अक्षय सौभाग्य एवं अखंड पुण्य-प्रताप अवश्य तुम्हें विजयी करेगा !!

जाओ विश्वास ! अनाथिनी आशा का उद्धार करो ! सबल की अत्याचार-प्रवृत्ति का दमन करो; निर्बल की रक्षा करो ! आओ विश्वास ! शुष्क हृदय के एक-मात्र रक्त-बिंदु से तुम्हारी तिलक करें ! राजराजेश्वरी भगवती कल्याण-सुंदरी तुम्हारा कल्याण करें !

स्मरण रखना—"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।" जाओ भगवान् कृष्ण के—परम-प्रभु प्रेम के—पवित्र वचनों का स्मरण करके, सदाचार-जैसे सदाशय गुरु-देव

के पाद-पंकज में प्रणाम करके, जाओ ! विश्वास ! विश्वास !! सेनापति !! एक बार फिर आशीर्वाद देता हूँ—"भगवान् तुम्हें अलौकिक विजय दें।"

( ४ )

आत्मेंद्रिय प्रीति इच्छा तारे बलि काम ;
कृष्णेंद्रिय प्रीति इच्छा धरे ेम नाम।

—श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु

ख़ूब था पहले से होते जो हम अपने बदख़्वाह ;
कि भला चाहते हैं और बुरा होता है।

—मिर्ज़ा ग़ालिब

कमनीय कोकिल ! कूको ! मलिंद ! आज आनंद से मकरंद-पान करो। कुसुम-कली ! आज खिलखिलाकर हँसो। दक्षिण समीर ! आज सौरभ से उन्मत्त होकर निकुंज-वन में विहार करो।

रसाल ! मोहिनी मालती का आलिंगन करो। कदंब ! माधवी को हृदय से लगा लो। पलाश ! अनंत अनुराग को प्रकट करो। तमाल ! लवंग-लता का चुंबन करो। आज अपूर्व आनंद है; अलौकिक आभा है ; दिव्य श्री है।

पक्षि-कुल हर्ष-लहरी का प्रारंभ करो ! पादप-पुंज ! पुष्प-परिधान धारण करो। वनराजि ! सुमन-खचिता श्याम सारी पहनो। जननी धरित्री ! आज तुम भी इस महोत्सव में योग दो !

कुसुमशर ! अपनी क्रीड़ा दिखाओ। रतिराज ! आज रति

की प्रशंसा में कोई मनोहर गान गाओ! परभृत वीणा बजावेगी! मलिंद मृदंग बजावेंगे!

आज महोत्सव है। आनंदमयी आशा के साथ उन्मत्त-राज, विजय-श्री को धारण करके प्रकृति-राज्य में प्रवेश करेंगे।

प्रकृति! महामाये! तुम्हें अनेक बार नमस्कार है। तुम्हारा पोषित, तुम्हारा लालित पुत्र आज अनंत विघ्न-बाधाओं को पद-दलित करके, असंख्य कंटक-कदंब को मार्ग से हटा करके, विजय-माल्य को धारण करके पति-गत-प्राणा आशा के साथ तुम्हारे राज्य में प्रवेश करेगा। मा! लो! अपनी वात्सल्यमयी गोद में लेकर अपने पुत्र का चुंबन करो। यह तुम्हारा अकिंचन पुत्र तुम्हारे पाद-पंकज में प्रणाम करता है, तुम्हारे चरण-युगल में विचित्र कुसुम-कुंज की अंजलि देता है! मा! जननी! आशीर्वाद दो।

आशे! प्राणाधिके!! चलो, मंदाकिनी-तट पर विहार करें। देखो! देखो! तुम्हारी अनेक रस-तरंग-माला की भाँति आज महारानी मंदाकिनी की तरंग-राशि उत्थित हो रही है।

आओ! इस वन-बेलि-निकुंज में इस शिला-तल पर बैठें!! ठहरो! तुम्हारे लिये कुसुम का आसन बिछा दें। आओ! प्यारी! सुखद प्रातःकाल है! गाओ! प्यारी!! आनंद के आवेश में, आमोद के आवेग में, हर्ष के उल्लास में गाओ! अहा! कैसी सुंदर गान-लहरी है—

गान

[ राग भैरवी ]

आजु तोरे जोबन की बलि जैहों । टेक ।
पुनि-पुनि प्रानप्रिया-पद परिहरि, प्रिय कितहूँ जनि जैहों ;
सुंदर वदन मदन-मन-मोहन, निरखन विमुख न लैहों ।
बिगरे लाज काज जग जीवन, तेरो प्रेम निबैहों ;
देश वेश 'हृदयेश' आजु तजि तो हित कुल तजि जैहों ।

वाह ! क्या सुंदर है ! आशा का दिव्य यौवन ! आशा का स्वर्गीय लावण्य !! आशा की मधुर छवि !!! आशा का मनोहर पाद-विक्षेप !!! कैसा सुंदर है ! कैसा उन्मादक है !! क्या इसी से तो मैं उन्मत्त नहीं हूँ ? आशे ! आशे ! क्या तुम उन्मत्त बनाती हो ? बना दो ! संसार को उन्मत्त बना दो !!

आशे ! आशे !! अपूर्व आश्चर्य है ! तुम्हारे विना भी मैं उन्मत्त हूँ ; तुम्हारे प्रत्यक्ष में भी मैं उन्मत्त हूँ । मैं हृदय की खोई हुई 'पारस-पथरी' पाकर हर्षातिरेक से उन्मत्त हो जाता हूँ ; हृदय की चंद्रकांत-मणि खोकर, ज्वाला की शिखा-माला से परितप्त होकर भी उन्मत्त हो जाता हूँ । मेरा जीवन उन्माद-मय है !!

उन्माद ! उन्माद ! तुम वास्तव में सुहृद हो ! विभव में, दरिद्रता में, हर्ष में, विषाद में, अमावास्या की मेघ-मंडलावृता अंधकारमयी रजनी में, शरत् की प्रफुल्ल यौवनमयी यामिनी में, पवित्र कुशासना कुटीर में, अनंत विलासमय राज-प्रासाद में, धधकती हुई चिता के भयंकर आलोक में, हँसते हुए सुधाकर,

के शीतल प्रकाश में—तुम सब समय समान भाव से साथ देते हो। उन्माद ! उन्माद ! हृदय के उन्माद ! बंधुवर ! तुम धन्य हो।

परितप्त हृदय में तुम अपनी शीतल मंदाकिनी का संचार करते हो; उद्भ्रांत चित्त में तुम अपनी शांतिदायिनी सम्मोहिनी शक्ति का प्रभाव प्रदर्शित करते हो। दुःख में विस्मृति ! हर्ष में विस्मृति !! तुम धन्य हो !! तुम वास्तव में योगिराज हो !

संसार-सागर की दावाग्नि में, विश्व-वन की दावाग्नि में, प्रबल वियोग की प्रलयाग्नि में, दारिद्र्य की प्रचंड जठराग्नि में, तुम समान भाव से स्थिर रहते हो। उन्माद ! प्यारे उन्माद !! तुम वीरता की पराकाष्ठा हो, साहस की सीमा हो, बल के वारिधि हो।

उन्माद ! भाई उन्माद !! तुम व्यथित हृदय को संजीविन देते हो, उत्तप्त हृदय-क्षेत्र में सुधा-धार प्रवाहित करते हो, विकृत मस्तिष्क में शांति-संचार करते हो। उन्माद ! प्रिय उन्माद ! क्या तुम वास्तव में धन्वंतरि-सखा हो।

उन्माद ! भ्रातृवर ! तुम संसार में नूतन सृष्टि करते हो, विकृति में विचित्रता दिखाते हो, प्रकृति में प्रेम-पुष्प प्रस्फुटित करते हो। भावमय संसार के चित्र का नवीन वेष में प्रदर्शन कराते हो ! उन्माद ! क्या तुम प्रजापति-बंधु हो ?

उन्माद ! जीवन-सहचर ! तुम निर्बल आत्मा को सबल

बनाते हो ! हिमाच्छादित हिमाचल के सुवर्ण-शृंग पर खड़े होकर तुम प्रेम के महामंत्र का उद्घोष करते हो ! तुम प्रेम-श्रुति, स्नेह-स्मृति और प्रीति-पुराण का पवित्र पाठ विश्व को पढ़ाते हो ! उन्माद ! प्रियवर ! क्या तुम धर्म के महान् आचार्य हो ?

उन्माद ! तुम्हें कोटिशः प्रणाम है। तुम्हारा ऋण अनंत है, उपकार अपरिमेय है, सौहार्द असीम है। उन्माद ! सत्य कहना ! क्या तुम प्रेम के सखा हो ?

आशे ! क्षमा करना ! रुष्ट न होना ! उन्माद-बंधु से मैं वार्तालाप करने लगा था ! आशे ! आशे ! मान मत करो ! स्त्री-सुलभ ईर्षा को तिलांजलि दो ! ईर्षा विष-कन्या है; इसे अपने निकट मत आने दो। ईर्षा ! ईर्षा ! अपवित्र ईर्षा !! दूर—दूर ! प्यारी आशा का पवित्र कलेवर अपवित्र न करना; इस सरल हृदय में विकार उत्पन्न न करना !

आशे ! सावधान ! सम्मुख घोर अंधकार है ! उसके उपरांत अनंत प्रकाश है ! अंधकार में कहीं ईर्षा के साथ चल न देना !

ईर्षा के संग का फल होगा—ग्लानि ! और ग्लानि का फल—आत्मघात ! आशे !! असमय में, यौवन-युग के प्रथम चरण ही में, कराल काल का कवल मत बनना !!

उन्माद ! बचाओ !! आशा को बचाओ !! निशिचरी-गृहीता राज-लक्ष्मी को बचाओ !! पर्वत-शिखर से पतित हो रही

आशा को बचाओ ! हाय ! आशा का कोमल कलेवर चूर्ण हो गया ! हाय आशे !! तुम्हारा भीषण अंत ! तुम्हारा भयानक परिणाम !!! तुम्हारा असमय मरण !!!

ईर्षा ! राक्षसी !! आशा को अंधकारमय गिरि-गह्वर में धक्का देकर कहाँ जाती है ? आह निर्बल जानकर विद्रूप करती है ? तेरा नाश कर दूँगा ! तेरा विनाश करने के लिये मैं अखंड तप करूँगा ।

उन्माद ! चिर-सहचर उन्माद !! अब मैं तप करूँगा ।

( ४ )

अति खीन मृनाल के तारहु ते,
    तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है ;
सुई बेह को बेधि सकी न, तहाँ,
    परतीति को टाँड़ो लदावनो है ।
कवि बोधा अनी घनी नेजहु ते,
    चढ़ि तापै न चित्त डिगावनो है ;
यह प्रेम को पंथ कराल महा,
    तरवार की धार पै धावनो है ।

—कविवर बोधा

Let those love now, who never loved before,
Let those who always loved, now love the more.

—*Thomas Parnell*

अभिलाषा ! जाओ ! आज तुम्हारा अंतिम साक्षात् है । कल्पना ! जाओ ! अनंत काल की अंधकारमयी कंदरा में अपना निवास-स्थान बनाओ । चिंता ! किसी मत्सर-पूर्ण संसारी की

चिता में दग्ध हो जाओ। ज्ञात हुआ, तुम परभृत की भाँति विश्वासघातिनी हो। जिस हृदय ने तुम सबको पाला, अपने रुधिर से तुम्हारा कलेवर परिवर्धित किया, अपनी अनंत संपत्ति से तुम्हें विभूषित किया, तुम सबने मिलकर, उसी के साथ विश्वासघात किया। मायाविनी-समूह! जाओ! अब कभी अपनी मधुर वाणी में विष मत मिलाना! जाओ! किसी के सरल हृदय में विष-बेलि मत बोना! जाओ! जीवन की मंदाकिनी को कभी विपरीत मत बनाना!

संसार के कोलाहल में जाकर तुम अपना निवास बनाओ! घातक के हृदय में, दस्यु की कर-कंपिता विषाक्त छुरिका में, रौद्र-रस के ज्वालामय लोचन-युगल में, कुलटा की विकारमयी वक्षःस्थली में, दानवी की भीषण प्रतिदान-वृत्ति में, मायाविनी की मारण-प्रतिहिंसा में जाकर अपना कालिमा-लिप्त मुख-मंडल छिपाओ!!

पवित्र हृदय-सदन तुम्हारे योग्य स्थान नहीं है! सरल मुख-मंडल पर तुम्हारा प्रभुत्व नाश-व्यंजक है! विमल प्रेम तुम्हारे सहवास से कलुषित हो जाता है! पवित्रता के तुम सब परम शत्रु हो। जाओ! हट जाओ!! नयन-वारि व्यर्थ है! नासिका-पुट-कंपन निष्फल है! जाओ! उन्मत्तराज आज्ञा देता है—"हमारा हृदय-सदन शीघ्र परित्याग कर दो; अन्यथा उन्मत्तराज के प्रबल उन्माद में तुम्हारे सर्वस्व की आहुति हो जायगी।"

तपस्या ! घोर तपस्या ! आओ साधना की सहचरी ! आराधना की सखी ! आओ उन्मत्तराज तुम्हारा विश्राम-प्रद आश्रय ग्रहण करता है ! देवी ! राजराजेश्वरी ! रक्षा करो !

"विषस्य विषमौषधम्" । हृदय की ज्वाला शांत करने में केवल घोर तप ही, अखंड व्रत ही, निरंतर नियम ही समर्थ है। नियम ! व्रत ! साधना ! तपस्या ! आओ ! आज उन्मत्तराज को योगिराज बनाओ ! अपने कर-कमल से मेरा अभिषेक करो; अपने श्रीमुख से मुझे आशीर्वाद दो ! प्रकृति उत्सव करेगी ! अंबर दर्शक बनेगा ! और विश्व ? वह नत-सिर होकर मेरी आज्ञा का पालन करेगा !

साधना ! जीवन का सर्वस्व साधना ! तुम अब तक अपने प्रकृत रूप में कहाँ थीं ? अभिलाषा, कल्पना आदि के संसर्ग से विकृति-स्वरूपा साधना ! आओ ! हृदय से लगकर प्रज्व-लित अग्नि को शांत करो !

साधना ! राजरानी साधना !! तुम्हारी विजय-ध्वनि से सूर्य-मंडल विदीर्ण होगा ! तुम्हारे अपरूप सौंदर्य से त्रैलोक्य मोहित होगा ! तुम्हारे अनंत गुण-गण पर परम पुरुष मुग्ध होंगे।

साधना ! आओ ! आराधना ! आओ ! कुसुम-संचित हिमाचल की वनस्थली में, भगवती मंदाकिनी के कोमल नूपुर-रव में, नागेश्वरी की कंकण-ध्वनि में और कालिंदी के कलित कंठ में अपना 'स्वर' मिलाओ। मृतक तुम्हारी संगीत-लहरी

सुनकर जीवित हो जायँगे ! व्यथित स्वस्थ हो जायँगे ! दरिद्र-मंडल कुबेर का उपहास करने लगेगा ! निखिल विश्व सुधा की शीतल लहरी से प्लावित हो जायगा ।

प्रकृति परम प्रसन्न होकर तुम्हें अपनाएगी ! गाओ, मंगल-गान गाओ—

गान

जय जय जय प्रेम-देव भारत-हितकारी ।
राजत रति-रुचिर वेष, अरचत मुनिगन अशेष,
विहरत वन-वन विशेष, सुंदर सुखकारी ।
मंजुल मूरति अमंद, शोभा लखि लजत चंद,
चरचित चरनारविंद, जीवन बलिहारी ।
सोहत सुख-सार-सिंधु, मोहत मन मनहुँ बंधु,
सरसत जनु उदधि-बंधु, मोहन मनहारी ।
जय-जय लोचन-ललाम, मनहर, अभिराम श्याम,
जय-जय 'हृदयेश' काम, कोमल मलहारी ।

जय प्रेम-देव ! विश्व ! बोलो, 'जय प्रेम-देव की !' आकाश ! उच्चारण करो, जय प्रेम-देव की !' पाताल ! गूँजो, 'जय प्रेम-देव की !'

साधना ! आराधना ! तुम धन्य हो ! तुम्हारे सहवास में अनंत आनंद है, पूर्ण प्रकाश है, जीवन-ज्योति है। भगिनी-द्वय ! तुम्हारे पाद-पंकज में बार-बार नमस्कार है ! तुम्हारे सम्मुख, विनीत भाव से, उन्मत्तराज मस्तक नत करता है ।

साधना ! स्वाधीनता की सखी साधना ! पराधीनता की

प्रतिकूल-गामिनी ! देखो ! तुम अपने अनंतदास को कदापि परित्याग न करना !!!

आराधना ! कालिमा की शिर काटनेवाली ! प्रेम-प्रभु के चरण-कमल से निकली मंदाकिनी ! साधना की संगिनी ! तुम्हरी जय हो !

उन्माद आओ ! आज अमोघ शस्त्र धारण करें ! आओ ! आज अनंत तप में प्रवृत्त हों ! अखंड श्रुति का अनुष्ठान करें ! वांछित फल की प्राप्ति अवश्य होगी।

तप क्या है—निःस्वार्थ भाव

फल क्या है—विश्व-प्रेम

अंत क्या है—निर्वाण

शेष क्या है—अनंत

योग क्या है—सच्चिदानंद

और फिर ? फिर उन्माद ! वही प्यारा चिर-सहचर उन्माद !

# प्रतिज्ञा

## ( १ )

जीवन-ज्योति का निर्वाण ! कहाँ है ? नैराश्य की कालिमा-मयी कंदरा में, अथवा आनंद के आलोकमय प्रासाद में ? कल्पना और चिंता ! इसका समुचित उत्तर क्या तुम दोनो की सर्वत्र-विहारिणी बुद्धि के भी परे है ?

उत्तर हो, या न हो, कर्तव्य के कठोर पथ से भ्रष्ट हो जाने पर जीवन-ज्योति अवश्य ही रसातल की अपमान-कंदरा में चिर-काल के लिये पतित हो जायगी, भविष्य-गगन के बाल-सूर्य की उज्ज्वल आभा अज्ञान-सिंधु के भयंकर वक्षःस्थल में निश्चय ही विलीन हो जायगी। ऐसे समय जीवन-मरण की विकट समस्या के समुपस्थित होने पर कौन-से मार्ग का अवलंबन करना होगा ? विश्वनाथ के विमल हृदय में इस क्रांतिकारी प्रश्न ने बड़ी हलचल मचा दी है ।

विश्वनाथ की अवस्था २० वर्ष की है। बी० ए० पास होने पर भी उन्हें ग्राम्य जीवन और ग्रामीण वेश ही विशेष प्रिय है। जिन्हें अँगरेजी पढ़कर अपने देश और वेश से घृणा हो जाती है, शिक्षा के सर्वोच्च सोपान पर पहुँचकर भी जिनमें करुणा और विनय का एकांत अभाव तथा स्वार्थ और अहंकार का पूर्ण

प्रभाव परिलक्षित होता है, जो देश के सर्वस्व का उपभोग करते हुए भी उसके साथ—अपने जन्म-दाता के साथ—विश्वासघात करने में कण-मात्र भी कुंठित नहीं होते, जो देश की दरिद्र संतान से—अन्न-दात्री कृषक-मंडली से—एक बार हँसकर बोलने में भी अपनी निःसार मान-मर्यादा के अपमान की कल्पना करते हैं, उनके—विदेशी सभ्यता के तीव्र आलोक में विचरने-वाले ममता-शून्य अहम्मानियों के—विश्वनाथ अपवाद-स्वरूप थे।

विश्वनाथ जिस ग्राम में रहते थे, वह उन्हीं की ज़िमींदारी में था। विश्वनाथ केवल अपने माता-पिता के ही स्नेह-भाजन हों, यह बात न थी। गाँव के छोटे-बड़े, धनी-मानी, राव-रंक, सभी विश्वनाथ से समान स्नेह करते थे। विश्वनाथ की करुणा-लहरी भी अनवरुद्ध गति से प्रवाहित होकर सबको समान भाव से शीतल करती थी। गाँव की युवतियाँ उन्हें भाई कहतीं, गाँव के कपट-शून्य युवक उनसे सहोदर-समान स्नेह करते, गाँव की प्रौढ़ा उन्हें अपनी संतान के समान देखतीं और गाँव के बच्चे-बूढ़े उन्हें अपनी आत्मा का दूसरा स्वरूप समझते। प्रकृति के उस परम रम्य विहार-वन में, स्नेह के उस सौरभमय निकुंज में और शांति के उस पुण्य-उपवन में विश्वनाथ इस प्रश्न की समुचित समस्या हल करने के लिये व्याकुल हो उठे।

तर्क! वक्र गति का परित्याग कर दो। नियम! अपवाद का अनादर कर दो। न्याय! विकार का बहिष्कार कर दो। और

सत्य! तुम अपने ध्रुव आलोकमय रूप में दर्शन देकर विश्वनाथ के हृदय-गगन की इस संदेह-कालिमा को दूर कर दो।

( २ )

इस ब्रह्मांड-व्यापी भू-कंप के समय भारतवर्ष अपने पैरों पर खड़ा रह सकेगा या नहीं, इस विषय पर विचार करते-करते विश्वनाथ ग्राम-वाहिनी कल्लोलिनी के तट पर घूम रहे हैं। दिननाथ अपनी अरुण किरणों से सरोजिनी के म्लान होते हुए मुख का चुंबन करके अपनी रसातल-यात्रा में अग्रसर हो रहे हैं। मध्य-गगन में अष्टमी का अर्धचंद्र भुवन-भास्कर के असीम राज्य पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिये विशेष समुत्सुक हो रहा है।

विश्वनाथ आप-ही-आप कहने लगे "कैसी भयंकर परिस्थिति है! कहाँ है देवताओं के ऐश्वर्य को पराजित करनेवाली वह विभूति? स्वप्न हो गई! ये सब इतिहास-शेष बातें हैं। देखता हूँ, कमल-दल-विहारिणी भगवती कमला अपने कर-सरोज के मुरझाए हुए एक पल्लव-शेष सरोज को अपनी अश्रु-धारा से सिक्त कर रही हैं; देवीशारदा भग्नावशेष भवन में बैठकर, अपनी भुवन-मोहिनी वीणा के टूटे हुए तारों को मिलाकर, मर्मांतक गान गा रही है। चली गई सब संपदा! कहाँ है वह ऋद्धि-सिद्धि का अनुपम नृत्य? कहाँ है वह विश्व-विमोहन ऐश्वर्य? विधि का कैसा भयानक विधान है? भाग्य-नाटक का कैसा

मर्मभेदी दुःखांत दृश्य है ? आनंद का वह जयोल्लास मानो अनंत गगन में विलीन हो गया ; ऐश्वर्य की वह आभा मानो अनंत तिमिर के उदर में शेष हो गई ; विभूति मानो श्मशान-भूमि में भूति-शेष रह गई !"

कहते-कहते विश्वनाथ के लोचन-युगल से अश्रु-धारा बहने लगी। हृदय में जब भयंकर उत्ताप होता है, कल्पना जब केवल प्रज्वलित प्रदेश में परिभ्रमण करती है, मस्तिष्क जब, चिता-भूमि की भाँति, धधकते हुए विचारों का केंद्र बन जाता है, तब नयनों की अश्रु-धारा क्या इस भयंकर अग्नि-त्रयी को शांत करने में समर्थ होती है ?

विश्वनाथ अश्रु-प्रवाह को पोंछकर पुनः कहने लगे—"सुनता हूँ विधवाओं का मर्म-भेदी आर्तनाद, शुष्कस्तनी माताओं के मृतप्राय बालकों का भयंकर चीत्कार, दरिद्रता का भीषण अट्टहास, और हाय ! इन सबके बीच में सुनता हूँ सर्व-नाशिनी ईर्षा की पैशाचिक हँसी ! लज्जा आज शीर्ण-वस्त्रावृता है, शील जठराग्नि में दग्ध होकर विकल हो रहा है, आचार अभाव के कठोर अत्याचार से मृतप्राय हो रहा है और प्रेम चिंता की भयंकर चिता में दग्ध होकर भस्मावशेष होना चाहता है। हा दैव !"

विश्वनाथ अत्यंत उद्विग्न हो उठे। जब दुःख-सिंधु अपनी मर्यादा का उल्लंघन करना चाहता है, प्रकांड भू-कंप का आघात जब धैर्य-शैल को रसातल के गर्भ में ले जाने का

उपक्रम कर रहा है, प्रबल पयोद-पुंज अपनी भयंकर गर्जना में जब निर्बल के मंद चीत्कार को विलीन कर लेना चाहता है, तब प्रलय में—जगत् के भीषण परिवर्तन में—विशेष विलंब नहीं है।

( २ )

रमानाथ और विश्वनाथ बाल्य-बंधु हैं। कल्लोलिनी-तट पर, निकुंज वन में, दोनो ने अनेक बार अपने-अपने सरल हृदय के निश्छल भावों को एक दूसरे के सम्मुख प्रकट किया है। एक ही भूमि पर दोनो ने सूर्य की प्रथम किरणों को देखा, एक ही भूमि पर दोनो ने मनोहर बाल्यजीवन को समाप्त करके यौवन में पदार्पण किया, एक ही कॉलेज में अध्ययन करके दोनो ने बी० ए० की उपाधि प्राप्त की और एक ही मन-प्राण होकर दोनो ने अपने-अपने जीवन की अमूल्य मणि को एक ही प्रेम-सूत्र में पिरोया। रमानाथ और विश्वनाथ का यह देव-दुर्लभ प्रगाढ़ प्रेम इस कुत्सित विश्व की कपट-नाट्यशाला में, श्रीरामचंद्र और लक्ष्मण के आदर्श चरित्र की भाँति, एक स्वर्गीय दृश्य है।

विश्वनाथ आज रमानाथ के बिना ही कल्लोलिनी-तट पर विचरण करने आए थे। यह रमानाथ के लिये प्रथम आश्चर्य था। अपने अतीत जीवन में रमानाथ ने विश्वनाथ के बिना और विश्वनाथ ने रमानाथ के बिना कोई भी कार्य नहीं किया था। नित्य ही दोनो एक स्थान पर भोजन करते; नित्य ही

दोनो एक ही कक्षा में अपने-अपने अध्ययन में प्रवृत्त होते। आज विश्वनाथ रमानाथ को छोड़कर, अपने चिंता-दग्ध हृदय को लेकर, कल्लोलिनी-तट पर कल्पना की सहायता से माता का करुणा-पूर्ण मुख-मंडल देखते-देखते विचरण कर रहे हैं। यह विश्वनाथ और रमानाथ के प्रेम-इतिहास का एक नूतन अध्याय है।

जिस समय विश्वनाथ अपनी कक्षा से बाहर निकले थे, उस समय रमानाथ सो रहे थे। उन्हें निद्रादेवी की सर्वसंताप-हारिणी गोद में छोड़कर विश्वनाथ चले आए थे। रमानाथ ने जागकर देखा कि विश्वनाथ नहीं हैं। आश्चर्य और आवेग के साथ, संदेह और संशय के साथ, रमानाथ शीघ्रता-पूर्वक कल्लोलिनी-तट के अभिमुख चल दिए।

जिस स्थल पर प्रेम की दो शीतल धाराएँ मिलती हैं, उस स्थान को भगवान् की अदृश्य करुणा-लहरी प्रयाग-तीर्थ में परिणत करती है। इस पवित्र त्रिवेणी-संगम पर स्नान करनेवाले, योग-दुर्लभ परमपद को प्राप्त कर, विश्व को—संतप्त संसार को—विश्व-प्रेम का पवित्र पाठ पढ़ाते हैं। रमानाथ और विश्वनाथ की सृष्टि क्या भगवान् ने इसी उद्देश्य से नहीं की?

रमानाथ ने देखा, विश्वनाथ की मुख-श्री, दिनकर-किरण-संतप्त सुमन की भाँति, मलिन है, स्निग्ध करुणा-पूर्ण लोचन-युगल जल-पूर्ण हैं और कुसुम-कोमल शरीर शिथिल हो

रहा है। रमानाथ ने आवेग से उनका हाथ पकड़कर कहा—"विश्वनाथ !"

विश्वनाथ ने चौंककर कहा—"कौन ? रमानाथ !"

( ४ )

पतंग-प्रिया पद्मिनी, प्रोषितपतिका की भाँति, श्री-विहीन होकर संकुचित हो गई। पक्षिकुल-संरक्षक-विहीन गायक-समाज की भाँति, मूक हो गया। प्रकृति, परिश्रम के विश्राम की भाँति स्तब्ध हो गई। गगनांगण में विहार करता हुआ चंद्रमा अपनी शुभ्र चंद्रिका की शीतल धारा से धरणीदेवी के दिनकर-कर-तप्त कलेवर का सिंचन करने लगा। कुमुदिनी प्रिय का चुंबन पाकर प्रफुल्लित हो गई। ओषधियाँ अनुकूल नायक को प्राप्त करके, स्नेह के आवेश में चमकने लगीं। कल्लोलिनी की तरंग-माला चंद्रमा की किरणों से खेलने लगी। रमानाथ ने कहा—"विश्वनाथ, अपनी इस तीव्र व्यथा की बात मुझसे न कहकर तुमने मेरे साथ कैसा अन्याय किया है, सो तुम जानते हो ?"

विश्वनाथ ने दुःखित स्वर में कहा—"भैया, मैं सदा का दोषी हूँ। तुम्हारे प्रेम का मैंने अनादर किया हो, यह बात नहीं है। तुमसे मैंने कौन-सा रहस्य छिपाया है ? वास्तव में मेरे इस जीवन का समस्त इतिहास तो तुम्हारे हृदय की प्रेम-पुस्तक में लिखा हुआ है। भैया, मैं समझता था कि इस विश्व में सहानुभूति और करुणा की शीतल तरंगिणी

अनवरुद्ध गति से बहती है। किंतु नहीं, अब देखता हूँ कि प्रबल अत्याचार का प्रकांड पर्वत, द्वेष की कठोर भित्ति, स्वार्थ-प्रवृत्ति का भीषण पाषाण-समूह, एकमत होकर, पग-पग पर, मही-तल के हृदय-तल को शीतल करनेवाली इस निर्झरिणी के मार्ग का अवरोध कर रहे हैं। भारत-भूमि निर्बलों के रक्त से लाल हो रही है। हिमाचल की कंदराएँ निरीह बालक-बालिकाओं की क्रंदन-ध्वनि से परिपूर्ण हो रही हैं। भारतीय गगन-मंडल अबलाओं की रोदन-ध्वनि से विदीर्ण हो रहा है। बोलो रमानाथ, विश्वेश्वर का सिंहासन फिर कब डोलेगा?"

कहते-कहते विश्वनाथ फिर अधीर हो उठे। रमानाथ ने भी इस बार आवेश के साथ उत्तर दिया—"डोलेगा! अवश्य डोलेगा! क्यों न डोलेगा? किंतु भाई, जब तक हमारे ही हृदय का करुणा-सिंहासन अचल भाव में स्थित रहेगा, जब तक हमारा रक्त धमनी में जल होकर बहता रहेगा, जब तक समस्त भारत एक मन, एक प्राण होकर एक ही उद्देश्य की ओर प्रधावित नहीं होगा, जब तक अकर्मण्य बनकर केवल कल्पना द्वारा ही भारतवासी, भगवान् की करुणा को पुकारते हुए भारत के सौभाग्य को उज्ज्वल करने की व्यर्थ चेष्टा में प्रवृत्त होते रहेंगे, तब तक भगवान् का सिंहासन कदापि नहीं डोलेगा। शैतान के वीभत्स हास्य में, कल्पना के गंभीर गह्वर में, भारत की प्रार्थना—कर्म-हीन विनय—विलुप्त हो जायगी।"

विश्वनाथ ने कुछ शांत होकर कहा—"कर्म-हीन विनय—निश्चेष्ट प्रार्थना—करुणामय भगवान् के करण-कुहर में कदापि प्रवेश नहीं करेगी। भारतवर्ष को इसी कर्म-क्षेत्र में लाने के लिये मैं उद्विग्न हो रहा हूँ। सोचता हूँ, यदि इस तुच्छ हृदय का, इस निर्बल कलेवर का, इस सीमाबद्ध बुद्धि का, इसी कर्म-क्षेत्र में, भारतवासियों को कर्मण्य बनाने के पुण्य प्रयास में, शिव और शैतान के भयंकर संग्राम में, मातृ-वेदी पर बलिदान हो जाय, तो इससे बढ़कर और क्या है!"

रमानाथ ने आग्रह-पूर्वक कहा—"सत्य कहते हो भैया! तुम्हारी आकांक्षा अभिनंदनीय है। जानते हो, इस बलिदान का फल ध्रुव विजय है; हृदय का तप्त शोणित—प्रेम का पवित्र पीयूष-प्रवाह—अक्षय-ज्योति को प्राप्त करने का अव्यर्थ साधन है।"

विश्वनाथ ने उत्सुकता से पूछा—"रमानाथ, बता सकते हो, इस महान् यज्ञ के अनुष्ठान के लिये क्या करना होगा?"

इसी समय निकुंज की दूसरी ओर से एक नवयुवक संन्यासी ने गंभीर ध्वनि में कहा—"त्याग।"

( ५ )

रमानाथ और विश्वनाथ चौंक उठे। उन्होंने देखा, एक शतायु संन्यासी सम्मुख खड़ा है। मुख पर अपूर्व तेज है। शरीर अत्यंत सुंदर एवं गठा हुआ है। एक हाथ में त्रिशूल है, दूसरे में भिक्षा-पात्र। संन्यासी ने कहा—"बंधु-द्वय, तुम दोनों

की बातें सुनकर मुझे परम सुख प्राप्त हुआ है। चलो, संन्यासी की कुटी को पवित्र करो।"

रमानाथ और विश्वनाथ ने बद्धांजलि प्रणाम किया। संन्यासी ने ईषत् हास्य के साथ कहा—"विजय हो।"

रमानाथ और विश्वनाथ संन्यासी के पीछे-पीछे चल दिए। ग्राम-विहारिणी सरिता एक सुंदर वन में प्रवेश करती है। वास्तव में वह एक विस्तृत वन के मध्य ही में होकर, मधुर कलकल ध्वनि करती हुई, अभिसारिका की भाँति, सिंधु-पति की ओर अग्रसर होती है। प्रकृति की उसी विहार-स्थली में सरोजिनी-शोभित सरिता के सुरम्य तट पर, संन्यासी की लता-पत्रादि-वेष्टित स्व-निर्मित कुटी है। संन्यासी की आज्ञा पाकर विश्वनाथ और रमानाथ, कुटी के बाहर ही, चंद्रिका-चर्चित दूर्वा के कोमल आस्तरण पर बैठ गए। संन्यासी भी उनके सम्मुख बैठ गया।

संन्यासी ने कहा—"युगल बंधु, जानते हो तुम्हारा कर्म-क्षेत्र दुग्ध-फेन-सम कोमल शय्या नहीं, किंतु कंटकाकीर्ण दुस्तर मार्ग है ? विश्व के समस्त काल्पनिक बंधनों को काटकर सबको एक प्रेम-सूत्र में गूँथना होगा। मातृ-ऋण कितना बड़ा है, सो तुम्हें बताने की आवश्यकता नहीं। इसी महान् ऋण से उऋण होने के लिये, दुःख की कठोर शृंखला में बँधी हुई अपनी 'स्वर्गादपि गरीयसी' जन्म-भूमि को सुखी करने के लिये, तुम्हें संसार के समस्त सुख-भोग को तिलांजलि देनी

होगी। आवश्यकता पड़ने पर जीवन का भी बलिदान करना होगा।"

विश्वनाथ ने उत्साह-पूर्वक कहा—"भगवन्, चराचरेश्वरी भगवती कल्याण-सुंदरी से यही विनय है कि मैं बार-बार जन्म लेकर मातृवेदी पर बलिदान हो जाऊँ। माता के चरण-तल में लोचन बिछा दूँ, यही हृदय की आकांक्षा है। हृदय का उत्तप्त शोणित देकर मातृ-मुख पर मधुर मुसकान देख सकूँ—ऐसा वर दीजिए। भगवन्! जीवन की साध यही; चिर-पालित आशा का पुरस्कार यही है।"

रमानाथ ने आवेश में कहा—"पूज्यवर, देखना चाहता हूँ, माता की उस मधुर मुसकान को, जिसे देखकर विश्वेश्वर भी विस्मित और विमोहित हो गए थे। देखना चाहता हूँ, हिमाचल के तुषार-मंडित सुवर्ण-शृंग पर माता की फहराती हुई विजय-वैजयंती को। सुनना चाहता हूँ, सौख्य का वह श्रुति-मधुर कलकल-नाद और भेंट में देना चाहता हूँ यह पंजर-बद्ध हृदय।"

सुनते-सुनते संन्यासी का मुख देदीप्यमान हो गया। उन युगल बंधु की आवेश-पूर्ण वाणी सुनकर संन्यासी का कलेवर रोमांचित हो गया। संन्यासी ने आग्रह तथा आवेश के साथ कहा—"आओ प्रिय बंधु-द्वय, मातृ-दर्शन करें।"

( ६ )

युवक संन्यासी के साथ विश्वनाथ और रमानाथ ने कुटी के

भीतर प्रवेश किया। प्रवेश करते ही विश्वनाथ और रमानाथ ने जो अनुपम दृश्य देखा, उसे देखकर वे एकदम ही विमुग्ध हो गए। उन्होंने देखा, अनंत-विभूतिमयी, परम लावण्यमयी, माता की करुणा-मूर्ति को। घृत-दीपक के उज्ज्वल प्रकाश में अपनी स्निग्ध आभा को मिलाकर माता का सौम्य मुख-मंडल उन तीनो पर करुणा की अविरल धारा बरसाने लगा।

माता का योगिनी-वेश था। वह सौम्य तेज से परिपूर्ण कलेवर गैरिक वस्त्र से आच्छादित था। एक हाथ में था कमल, दूसरे में विजय-शंख, तीसरे में मनोहर वीणा और चौथे में चमचमाता हुआ त्रिशूल! मुख पर हास्य, लोचन में करुणा, ललाट पर तेज! आज भगवती मानो साधना-रूप से प्रकट हुई थीं।

विश्वनाथ, रमानाथ और संन्यासी ने माता को साष्टांग प्रणाम किया। प्रतिमा मानो, अपनी स्वाभाविक हँसी के द्वारा, आशीर्वाद-लहरी से उन तीनो को सिक्त करने लगी।

संन्यासी कोकिल-कंठ से गाने लगा। हृदय के आवेश में विश्वनाथ और रमानाथ भी संन्यासी के स्वर में स्वर मिलाकर गाने लगे। मातृ-प्रतिमा मंद हास्य करती हुई सुनने लगी—

गान

जयति जय जननी!

जीवन-मूरि, ज्योति लोचन की, अरि-कुल सकल प्रमथनी!

नित पयोधि परसत पद-पंकज, पुण्य-पियूष-प्रस्रवनी!

वारत तन, मन, धन, जन, जीवन, जीवन-पाप-प्रशमनी !
माँगत नित 'हृदयेश' चरण-रति, मति-गति मो-मन बसनी ।

गान समाप्त होने के बाद संन्यासी ने कहा—

"बंधु-द्वय, मातृ-चरण का स्पर्श करके प्रतिज्ञा करो कि हम माता की उन्नति के लिये जीवन-दान देकर चेष्टा करने में भी पराङ्मुख नहीं होंगे ।

विश्वनाथ और रमानाथ ने मातृ-चरण छूकर प्रतिज्ञा की । उसी समय माता के कर-सरोजों से विश्वनाथ और रमानाथ के गले में दो मालाएँ गिर पड़ीं । माता ने मानो विजय-माला पहनाकर कहा—"विजय हो ।"

× × ×

उसी रात्रि को, उसी पुण्य अवसर में, विश्वनाथ और रमानाथ ने अपने कर्तव्य-मार्ग को ठीक-ठीक जान लिया । संसार का निःसार मोह-बंधन काटकर विश्व-प्रेम के अनंत आश्रय को प्राप्त करके, प्रकृति के पुण्य आशीर्वाद को अपने शीश पर धारण करके, ऋषि-पुंज के मंत्र-पूत जल से पवित्र होकर, देवताओं की अविरल पुष्प-वृष्टि में, देवांगनाओं के स्वर्गीय संगीत में 'स्वदेश-सेवा और सुख' का गंभीर निनाद करते हुए दो निष्काम युवक संन्यासी कर्तव्य की कठोर भूमि में अवतीर्ण हुए । चंद्रदेव ने हँसकर कहा—"शुभास्ते पंथानः ।"

कल्लोलिनी ने कलकल-ध्वनि में कहा—"शुभास्ते पंथानः ।"

अचल ने अचल भाव में कहा—"शुभास्ते पंथानः ।"

# प्रेतोन्माद

## ( १ )

स्वर्ग यदि नियम है, तो संसार उसका अपवाद है। नंदन-कानन के पारिजात-कुंज में सौंदर्य चिर-वसंत के साथ विचरण करता है; किंतु संसार की माया-मरीचिका में वह दर्शन-मात्र देकर विलुप्त हो जाता है। कुसुम-कलेवरा ऊषा का वह अपरूप माधुर्य कितनी देर तक रहता है? कितनी देर तक मलय-समीर उसके स्निग्ध श्यामल अंचल से क्रीड़ा करता है? थोड़ी ही देर में प्रचंड पवन धायँ-धायँ करता हुआ चलने लगता है, हेम-लता धरातल पर लुंठित होकर विकृत हो जाती है, ऊषादेवी का वह मनोहर लावण्य ताप करके भीषण ताप में अंतर्हित हो जाता है और नंदन-कानन का प्रतिस्पर्धी संसार क्षण-भर में सौरभ-हीन मरु-भूमि में परिणत हो जाता है। हाय! विश्व का यह परिवर्तन कैसा दुःखांत है? महामाया की इस संसार-रंगभूमि में केवल दुःखांत नाटक का ही अभिनय होता है। इस विषय में कल्पना और चिंता एक मत हैं।

हृदय की उत्तप्त मरु-भूमि में, अभिलाषा और आशा की धधकती हुई चिता के आलोक में, गत जीवन की पूर्व स्मृति, प्रेत-पुंज की भाँति, अट्टहास कर रही है। मैं देख रहा हूँ,

सहस्र-वृश्चिक-दंशन के मध्य में, तीव्र मद के भयंकर उन्माद में, रौरव-नरक की धधकती हुई ज्वाला में स्थित होकर, मैं, दुर्भाग्य के किसी अज्ञेय एवं अचिंत्य विधान से जीवित रहकर, इस पैशाचिक नृत्य को देख रहा हूँ। तिमिरांबरा यामिनी के तृतीय प्रहर में, कलकल-नादिनी कल्लोलिनी के पिशाच-सेवित उभय कूल पर स्थित होकर, मैं आजन्म-व्यापी यातना की सांत्वना के लिये गगन-स्थित तारका-पुंज की ओर देख रहा हूँ। कौन जानता है, वे मेरी ओर किस दृष्टि से देख रहे हैं, सहानुभूति की अथवा अवज्ञा की?

कैसी माया है? कैसी भूल है? दूर तक—दृष्टि-पथ की अंतिम सीमा तक—स्वर्ग और संसार की मिलन-रेखा तक—केवल अंधकार-ही-अंधकार है। निराशा के विस्तृत गगन-प्रदेश में आशा की क्षीण रेखा तक नहीं; प्रवृत्ति-पुरी में एक जन के कलकंठ का नाद भी नहीं; इच्छा-प्रासाद में परिव्याप्त प्रगाढ़ तम को विनाश करने के लिये दीपक का किंचित् आलोक भी नहीं। तब क्यों मैं सांत्वना के लिये परमुखापेक्षी हो रहा हूँ? क्यों व्यर्थ में नक्षत्र-मंडली के करुणा-स्रोत को अपनी ओर प्रवाहित करने का प्रयास कर रहा हूँ? विश्वेश्वर के करुणा-सागर में जब वाड़वाग्नि रह सकती है, प्रकृति के सौरभ-युक्त चंदन-वन में जब दावाग्नि प्रज्वलित हो सकती है, दरिद्रता के कंकाल-शेष कलेवर में जब प्रचंड जठरानल उद्दीपित हो सकती है, तब करुणा और

सांत्वना की भिक्षा माँगना केवल कल्पना की मरीचिका में निर्मल जल के प्राप्त करने का व्यर्थ प्रयत्न करना है।

मेरा विश्वास है कि चंद्रमा की स्निग्ध चंद्रिका का पान करने के लिये चकोर की अपेक्षा विषधर अधिक समुत्सुक होता है; परिमल-पूर्ण गुलाब का चुंबन करने के लिये 'बुलबुल' की अपेक्षा विष-कीट अधिक यत्नवान् होता है; संसार के संपूर्ण वैभव का उपभोग करने के लिये दान की अपेक्षा विलास अधिक परिकर-बद्ध होता है; सिद्धि की साधना के लिये सेवा की अपेक्षा अत्याचार अधिक परिश्रमशील होता है और प्रभुत्व की प्राप्ति के लिये प्रेम की अपेक्षा पिपासा अधिक लालायित होती है।

रहस्य का उद्घाटन कठिन है, किंतु परिणाम प्रत्यक्ष है। गति वक्र क्यों होती है? मति का मार्ग भ्रम-पूर्ण क्यों होता है? प्रवृत्ति का प्रकृत-पथ दुर्गम क्यों है? इनके रहस्य की कालिमा को दूर करने के लिये अनंत ज्योति की उज्ज्वल रेखा की भले ही आवश्यकता हो, किंतु परिणाम को देखने के लिये इन दो नयनों की क्षीण ज्योति ही पर्याप्त है।

( २ )

काल-कल्प विषधर अमूल्य मणि का मनोहर मुकुट धारण करता है; हलाहल हृदय-हीरक की उज्ज्वल ज्योति का आवरण पहनता है; लौहमना दामिनी तीव्र तेज से चमकती है; सर्वभक्षी अग्नि का स्वरूप कैसा उज्ज्वल होता है; सर्व-

प्रासी जल का प्रकट वेश कैसा निर्मल होता है। प्रवंचना का कैसा प्रताप है, माया की कैसी कूट राजनीति है, कपट का कैसा प्रच्छन्न प्रभाव है। सौंदर्य का आश्रय लेकर प्रतिपक्षी की आँखों में धूल डालकर, माया और प्रवंचना कैसा रोमांचकारी कार्य कर रही हैं—उसे देखकर संभवतः एक बार विश्वेश्वर भी चकित हो जाते हैं। संभवतः क्यों ? अपनी माया के इस अपूर्व अभिनय पर विश्वनाथ निश्चय ही चकित हो जाते हैं। आनंद में अथवा उन्माद में, संसार के अंतिम दृश्य-पट पर, अस्थि-धूल के भयंकर स्तूप पर, प्रवृत्ति की प्रकांड चिता के आलोक में, भूत-वेताल-गण की भीषण ताल पर, कल्याणकारी शिवशंकर, मानव-मुंडों की माला गले में डालकर, प्रलय का तांडव-नृत्य करने लगते हैं। कैसा आश्चर्य है ? कैसा व्यापार है ?

एक तर्क-वाचस्पति की भस्मावशेष चिता से ध्वनि हुई—"यह सौंदर्य की विजय है।" विजय ! वह जैसी श्रुति-मधुर है, वैसी दृष्टि-मनोरम तो नहीं। सौंदर्य की विजय क्या है ? निर्बोध हृदय का भग्नावशेष स्तूप, साध्वी सती की भस्मावशेष चिता और पाप का भीषण अट्टहास इसका उत्तर देंगे। रोमियो और मजनूँ की आत्माएँ अब भी विष की ज्वाला से जल रही हैं; कितनी ही गलियों में अब भी हृदय-रक्त की नदी बह रही है; कितनी ही क़ब्रों से अभी तक वेदना-पूर्ण आहें निकल रही हैं; कितनों ही की प्रेतात्माएँ

अपनी-अपनी मुक्ति के लिये इसी श्मशान-भूमि पर अपने आत्मघात रूपी पाप की कहानी, करुणा-पूर्ण स्वरों में कह रही हैं। यही विजय है? सौंदर्य की विजय ही उसकी घोर पराजय है!

धर्म-मंदिर में बलिदान होता है; दान-गृह में वेदना रहती है; त्याग-सदन में दमन-नीति का प्रवेश है; सेवा-सदन में बंधन का व्याघात है। इसी भाँति सौंदर्य में संताप है; प्रेम में परि-ताप है। उपलब्धि में आशंका है; इष्ट में ईर्षा है। मानव-बुद्धि का कल्पांतर-व्यापी व्यापार भी माया और प्रवंचना की कूट-नीति में परिवर्तन न कर सका। चेष्टा व्यर्थ हो गई, परिश्रम शिथिल हो गया, साहस आदर्श-मात्र रह गया, युद्ध विवेक-शून्य हो गया; किंतु माया की वह कपट-मूर्ति—उत्तप्त मरु-भूमि में सरोजिनी-शोभित सरोवर देखने की आशा—अब भी शेष है। संसार के इस महाश्मशान में भी विधवा पुत्र का मुख देखकर जीवित रहती है; भगिनी माता को सांत्वना देने का दुस्साहस करने के लिये प्राण धारण करती है; पिता अपने उस अमूल्य धन को चिता पर रखकर, अपने हाथ से उसके चिर-लालित देह में अग्नि-संस्कार करके, कनिष्ठ पुत्र के मुख की ओर देखकर, भावी आशाओं का सहज-छिन्न सूत्र हाथ में लेकर, अपने हत-भाग्य जीवन का मोह दूर नहीं कर सकता। श्मशान बुद्धि-वैराग्य-प्रदर्शिनी है। किंतु, प्रवृत्ति के बिना, किसी अज्ञेय, अचिंत्य साहाय्य के बिना,

कितने लोग बुद्ध और चैतन्यदेव होने का सौभाग्य प्राप्त कर सके हैं ? हाय विश्व !

शशि-शून्य रजनी ! मेघावृत गगन-मंडल ! दूर पर—बहुत दूर पर—एक नक्षत्र की क्षीण ज्योति इस घोर तम के विनाश का उपक्रम कर रही है। किंतु कितने क्षण के लिये ? अदम्य साहस, अलौकिक वीरता, निष्पक्ष न्याय, सभी एक दिन काल की कालिमामयी कंदरा में पतित हो ही जायँगे। कौन स्मरण करेगा ? और सच पूछिए, तो किसे स्मरण करने की आवश्यकता है ? आदर्श ? आदर्श तो काल-कुंभकार के निरंतरगामी चक्र पर बनता है। विश्व की विचित्र चित्रशाला के बीच नित्य नूतन भाव में, नित्य नवीन रूप में, इस आदर्श का रूप दृष्टिगोचर होता है। इस मानव-समाज में अपवाद-शून्य आदर्श का आदर नहीं है। अपनी ज्योति का आवरण पहनकर महान् सत्य कितने जनों का हृदय वशीभूत कर सका है ? मेरा विश्वास है और साधारण मानव-समाज का भी यही ध्रुव निश्चय है कि जिन्होंने इस महान् सत्य को—इस अक्षय ज्योति को—उसके उज्ज्वल नग्न वेश में देखकर अपने हृदय के तप्त रुधिर का अर्घ्य अर्पण करके, परितृप्त किया है, वे इस लोक के—मिथ्या संसार के—नहीं थे। स्वर्ग की चिदानंदमयी भूमि में, देवांग-नाओं के शांतिमय कोमल क्रोड़ में, नंदन-वन की पारिजात-परिमल से लदे हुए मंदाकिनी-जल-कण-शीतल समीर की थपकियों में, उज्ज्वल संगीत की मधुर लोरियों में और विश्वेश्वर के निरंतर-

वर्षा आशीर्वाद की लहरी में उनका लालन-पालन हुआ था। असत्य के विलास-पूर्ण कटाक्ष, पाप के कलुषित वैभव, उनके हृदय को छू तक नहीं सके थे। जहाँ पाप-वासना से लदी हुई उत्तप्त वायु चलती हो, जहाँ सुमन के वक्ष में भयंकर विषधर निवास करते हों, जहाँ कपट-हास्य में हलाहल-धारा प्रवाहित होती हो, जहाँ के साधारण व्यापार में प्रवंचना की तीव्र दुर्गंध मिश्रित हो, वहाँ आलोकमय आदर्श आत्मा का आविर्भाव असंभव है—असार है।

संसार क्या है? देवतों का कारावास है। "क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके पतन्ति।" प्रकृति का वह अपरूप लावण्य, सरिता का वह श्रुति-मधुर कलकल-नाद और कमनीय कलिका की वह मंद मुसकान आदि सब अमर कवि की अलौकिक सृष्टि में निवास करते हैं। प्रत्यक्ष तो प्रकृति के परम रम्य विहार-वन में हिंसक जंतुओं का निवास है; कलकल-नादिनी सरिता के गर्भ में कितने ही भग्न-हृदय वियोग-वह्नि को शीतल करने का व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं; शीतल निकुंज में दस्यु की छुरी का रुधिराभिषेक होता है, विहंगम-कुल के लिये व्याध का कपट-जाल विस्तृत होता है। अनंत काल से, ब्रह्मा की आदि-सृष्टि से लेकर आज तक, मानव-प्रकृति का परिवर्तन केवल-मात्र माया का नित्य नूतन रूप और चित्र-विचित्र लावण्य है। इस लावण्य की विषम विष-लहरी से बचकर, माया के आकर्षक इंद्रजाल से विमुक्त होकर, एक-

मात्र विश्व-सेवा की भव्य भावना से कितने मनुष्यों ने सर्वस्व-दान किया है—सो गणित-शास्त्र से अनभिज्ञ जन भी भली भाँति गिन सकता है।

विश्व का परित्राण नहीं है। निश्चित रूप से सदा के लिये—अनंत काल तक के लिये—संसार को माया के ऐंद्रजालिक आक्रमण से सुरक्षित रखने का साधन वेदांत की सिद्धांत-कंदरा में भले ही हो, किंतु कार्यतः तो नहीं है। विद्या-दिग्गज क्या समाज पर अत्याचार नहीं करते? धर्म के महान् आचार्य क्या समाज की सर्वश्रेष्ठ विभूति को स्वयं ग्रस जाने का उपक्रम नहीं करते? निर्बोध बालिका का सर्वस्व क्या प्रेम के नाम पर बलिदान नहीं किया जाता है? सभ्यताभिमानी जाति क्या दूसरी जाति पर चिर-प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा नहीं करती? कब होगा कल्कि-अवतार? और क्या इस अवतार के उपरांत—पुनः इन चतुर्युगों के परिवर्तन पर—भगवान् अपनी लीला का अभिनय नहीं करेंगे? कौन कह सकता है कि इस संसार की कभी मुक्ति होगी? प्रलय के भयंकर अत्याचार-अग्नि में पुनः-पुनः पतित होने ही का अखंडनीय विधान क्या इसके भाग्य में, अमिट अक्षरों में, लिखित हुआ है? तब करुणा-सागर की करुणा, धर्म की सांत्वना-लहरी और समाज का ऐक्य-बंधन क्यों उपहासास्पद होने के लिये इस विश्व में अवतीर्ण होने का आभास दिखाते हैं?

( ३ )

बाल-रवि की प्रथम किरण के प्रेम-स्पर्श से मुकुलित होने-वाली स्वर्ग-सरोजिनी के हृदय-कक्ष से परिमल-पूरित कलेवर लेकर मधुप को निकलते कितनों ही ने देखा है। अपने गर्भ-जात संतान-समूह को भक्षण करनेवाली मणि-मंडिता नाग-कन्या को प्रायः सभी जानते हैं। माता और पिता के प्रेम-स्रोत वक्षःस्थल पर पाद-प्रहार करनेवाले विवेकी पुत्र-पुंगवों की भी संख्या नगण्य नहीं है। सहृदय की सहधर्मिणी को कुमार्ग-गामिनी बनाने के लिये अब भी कितने ही पुरुष-रत्न, वेश-भूषा से सज्जित होकर, कपट-नाट्य का अभिनय करते हुए, अंतःपुर में प्रवेश करने से नहीं चूकते। विद्या-बुद्धि-दाता ईश्वर-तुल्य आचार्य के महदासन पर अधिकार करने के लिये शिष्यगण आचार्य की ज्वलंत शिखा को पकड़कर उनके शिर पर—देव-पूज्य उन्नत ललाट पर—पाद-प्रहार करने में भी क्षण-मात्र कुंठित नहीं होते।

संसार के समस्त महापुरुषों के जाज्वल्यमान जीवन-चरित्र इस विश्व की माया-प्रकृति-प्रधानता को तो न हटा सके। हिमाचल के हेमावृत सुवर्ण-शिखर पर विचरण करनेवाले देवर्षि और महर्षि भी इस प्रकृति-बल के सम्मुख नत-शिर होकर उसके आधिपत्य को स्वीकार करते हैं। विश्वास और संयम! कैसे सुंदर भाव-पूर्ण शब्द हैं? ये विश्व की विष-वनस्थली में मानो संजीवन-बूटी के तुल्य हैं; संसार की

बीभत्समयी चित्रशाला में मानो स्वर्ग के दो चित्र हैं। किंतु विश्व पर इनका कब पूर्ण प्राधान्य था? कब संसार से कपट और अत्याचार का समूल विनाश हुआ था? पुराणों की पवित्र गाथा भी इनके वर्णन से विरत न रह सकी; वेद के अत्यंत पावन कोष में भी इन्हें स्थान मिला; शास्त्र-समूह की तर्क-प्रणाली में भी इनका समावेश है। कौन नहीं जानता कि इस विश्व के परित्राण के लिये विश्वेश्वर को सती का सतीत्व नष्ट करना पड़ा था। ऋषि की काम-लिप्सा के लिये कुमारी का कौमार्य-व्रत खंडित हुआ; पाप की हत्या के लिये ईश-पुत्र ईसा का कुमारी-गर्भ में आना पड़ा; सत्य की विजय के लिये बुद्ध भगवान् को प्रेममयी भार्या के अतुल प्रेम का परित्याग करना पड़ा। किंतु यह निर्विवाद है कि इन घटनाओं की रंग-भूमि संसार था; स्वर्ग उस समय भी पवित्र था। जिस संसार के परित्राण के लिये केवल कपट की आयोजना ही अत्यंत आवश्यक है, जिस विश्व की मंदाकिनी में विकराल मत्सर-मगर का निवास है, जिस जगत् की निर्विकार उन्मुक्त आत्मा के लिये भी नश्वर शरीर का आश्रय लेना पड़ता है, उस संसार की—उस अभागे विश्व की—कैसी दुर्गति होगी, इस विषय में माया-मोह-त्यागी वैरागी महापुरुष की भविष्य-वाणी की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

माया का आशय और उद्देश्य क्या है? इनके रहस्य का उद्घाटन कौन करेगा? सत्य के समुज्ज्वल आलोक में लाकर

इनकी निर्भीक आलोचना कौन करेगा ? मानव-आत्मा का मर्मांतक चीत्कार किस गगन में प्रतिध्वनित होगा, किन अक्षरों में लिखित होगा, किस भाषा में व्यक्त होगा ? न्याय और मीमांसा के अजस्र द्वंद्व-युद्ध में, अलंकार और रस के अनवरत संगीत में, वेदांत और तर्क की विकट कटकटाहट में, इस दरिद्र का सीधा-सा भाव कैसे सुना जा सकेगा ? उसके मनस्ताप की मर्मांतक व्यथा की कथा का मर्म कौन समझेगा ? अनंत महासागर के एक क्षुद्र बिंदु को पुनः सिंधु से मिलने में क्यों असंख्य विघ्न डाले जाते हैं ? निर्बल के बल की परीक्षा की क्या आवश्यकता है ? कौन सुनेगा ? विश्व के इस निरंतर घूमते हुए चक्र की विकराल ध्वनि में—माया के महान् कोलाहल में—विश्व की आत्मा का, दरिद्रता-जर्जर प्राण का, चीत्कार लुप्त हो जायगा। सुना है, इस माया की न्याय-शाला से भी ऊँचा एक और न्याय-मंदिर है। किंतु वहाँ प्रवेश किसका है ? माया की भैरवी मूर्ति वहाँ तक पहुँचने किसे देती है ? ध्यान में कालुष्य का प्रवेश है, भक्ति में लिप्सा का प्राधान्य है, प्रेम में बंधन का व्याघात है, धारणा में भ्रम का समावेश है, मति में स्खलन है, गति में वक्रता है, तब—तब इस निर्बल पराक्रांत आत्मा की मर्मांतक रोदन-ध्वनि करुणा-सागर के कर्ण-कुहरों में कैसे प्रवेश कर सकेगी ? यह आशा भी मरीचिकामयी है।

किंतु विश्वेश्वर तो सर्वव्यापी हैं ; सर्वांतर्यामी हैं। हैं, किंतु

माया के आवरण के अभ्यंतर में रहने का तो उन्हें भी व्यसन है। अपनी इस सृष्टि की प्रत्येक कुटी में जा-जाकर कितनों की विनती को उन्होंने सुना है? कितनी दुर्भिक्ष-पीड़ित माताओं के चर्म-शेष स्तनों में निर्बोध बालकों के लिये उन्होंने दुग्ध उत्पन्न किया है? कितने अत्याचारियों का राज-मद उन्होंने चूर्ण किया है? और, यदि ये सब कार्य किए भी हैं, तो कब? मेरा विश्वास है कि भगवान् भी मानव-समाज की सहायता को उसी समय अवतीर्ण होते हैं, जब उन्हें यह भली भाँति विदित हो जाता है कि उनके प्रति उनकी लीला-भूमि का अखंड विश्वास संपूर्ण खंड-खंड होकर निराशा की अंधकारमयी कंदरा में पतित होनेवाला है। संसार की रक्षा की दुहाई देकर वास्तव में विश्वेश्वर अपने अखंड विश्वास की रक्षा करते हैं। मरणोन्मुख विश्वास के मुख में अपनी पद-निःसृत मंदाकिनी का एक शीतल जल-कण डालकर वह उसे मरने से तो बचा लेते हैं, किंतु हाय, वह कभी नहीं सोचते कि जर्जर विश्वास माया की महापाशविक कृति का विरोध न करके उसके अत्याचार में योग देने के लिये बाध्य होता है!

( ४ )

प्रलय-पयोधर की अविरल वारि-धारा भी वाड़वानल को शांत करने में असमर्थ होती है; चद्रमा की सुस्निग्ध चंद्रिका का मधुर आस्वादन भी चकोर को अंगार-भक्षण करने से निवृत्त करने में अक्षम होता है; हरि-चंदन की शीतलता भी निरंतर सहवासी

भुजंग के विष की उष्णता का निवारण करने में शक्ति-हीन होती है; निर्बोध, सुप्त बालक की मधुर मुसकान भी स्वार्थ की विकराल छुरी को उसके कोमल वक्षःस्थल को विदीर्ण करने से रोकने में प्रभाव-शून्य होती है; सती-साध्वी की अश्रु-माला भी कपट के विश्वास-घात को निवृत्त करने में निर्बल हो जाती है; ज्ञान की समुज्ज्वल आभा भी परम पैशाचिक अंधकार को विदीर्ण करने में अयोग्य सिद्ध होती है। गगनविहारिणी कल्पना के स्वर्ग-साम्राज्य में, 'कलित-कोमलकांत-पदावली' की मनोहर नूपुर-झंकार में अथवा संसार-मुक्त महात्मा की पवित्र भारती में, भले ही धर्म की जय होती हो, किंतु संसार में—मत्सरमय विश्व में—पाप ही का सुमन विकसित होता है। धर्म पाप के पास जाने से भयभीत होता है; अमृत विष के संसर्ग से दूर भागता है। आशीर्वाद-लहरी का शीतल जल-बिंदु केवल पुण्य के ही पवित्र ललाट पर पतित होता है; करुणा का स्वर केवल मायातीत के ही हृदय में झंकारित होता है; मंगल की पवित्र ध्वनि केवल सौभाग्य-गगन ही में प्रतिध्वनित होती है। तब कैसे उद्धार होगा? पुण्य को जब पाप से ऐसी विपुल घृणा है, धर्म का जब अधर्म से ऐसा स्वाभाविक वैर है, विमलता को कालुष्य से जब ऐसा सहज द्वेष है, तब इस संसार के—इस पापमयी रक्त-रंजित भूमि के—उद्धार-गगन में आशा-शशि की प्रथम किरण का भी दृष्टिगोचर होना असंभव है, अस्वाभाविक है, असार प्रपंच है।

दोष किसका है ? अपराधी कौन है ? विश्व ही का क्या अपराध है ? किंतु नहीं, इस विषय पर विचार करना व्यर्थ है। सुरेंद्र की काम-लिप्सा के अपराध के लिये ऋषि-पत्नी अहल्या को पाषाणी होना पड़ा; पांडु-पत्नी कुंती के दोष के लिये महासति कर्ण को आजन्म सूत-पुत्र की मर्मघातिनी उपाधि से कलुषित होना पड़ा; हिंसा की जघन्य लिप्सा के लिये भगवत्पुत्र ईसा को शूली पर चढ़ना पड़ा। तब किसके अपराध के लिये, किस नियम के अनुसार, किस समय, कौन दंड भोगता है —इसके जानने की आवश्यकता ही क्या है ? जब तक संसार में तुलना और विरोध का प्राधान्य रहेगा, उच्च और नीच का वैमनस्य रहेगा, शक्ति और निर्बल का परिपीड़न रहेगा, वृद्धि और ह्रास का अनिवार्य क्रम रहेगा, तब तक दंड का विधान किसी नियम के अनुसार होना असंभव है। माया-यंत्र में पड़कर किसे क्या-क्या सहन करना पड़ेगा—इसे जानना कठिन है। अग्नि लगने पर निर्बोध बालक भी भस्म हो जाता है; नौका मग्न होने पर सर्वस्व-त्यागी महात्मा भी जल के तल में सुप्त हो जाता है; महामारी के कराल कवल में विशुद्ध-हृदय ब्रह्मचारी का कलेवर भी पतित हो जाता है ; भाग्य की गंभीर गुफा में सौभाग्य का भी विनाश हो जाता है। जिन्होंने संसार को अमर नहीं बनाया, चिर-यौवन नहीं दिया, पाप को बिभीषिका में डाल दिया, सागर की मेखला की शृंखला में बंदी कर दिया, स्वयं निर्धारित कर्तव्य-क्षेत्र में फेंककर उसे कर्म-भोगी बना दिया—अपवादमय नियम की कठोर

रज्जु से जकड़ दिया, उनसे—उन भाग्य-विधाताओं से—किसी प्रकार की भी आशा करना दुराशा-मात्र है। और उन्हीं अधिकारियों के मुकुट हैं—विश्वेश्वर। सहस्र-मणि-विभूषित शेष-शय्या पर, आनंद से निश्चित होकर श्री को चरण-सेवा का भार देकर, ब्रह्मा को सृष्टि-क्रम चलाने का आदेश देकर, आप स्वयं योग-निद्रा का सहवास करते हैं। यह ठीक है कि कभी-कभी संसार के परित्राण की प्रतिज्ञा को याद करके आप अपनी उस निद्रा को क्षण काल के लिये त्यागकर विश्व-भूमि पर अवतीर्ण होते हैं, किंतु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि जब संसार की कोई बली आत्मा उनके अधिकारियों का अधिकार-मद दूर कर देती है, जब उनके प्रचलित किए हुए धर्म के शिर पर पाद-प्रहार करके कोई उसे गहरी गुफा में ढकेल देता है, जब उनके प्रिय पंचतत्त्व स्वत्व-विहीन होकर उन्हीं के चरण-तल पर 'त्राहि-त्राहि' करते हुए गिरते हैं, जब स्वर्ग की समस्त विभूतियाँ उनके सदन में सुशोभित होती हैं, तभी विश्वनाथ जागते हैं। देवताओं की—उनके विवेक-शून्य अधिकारियों की—ही प्रार्थना उनके कर्ण-कुहर में प्रवेश करती है। संसार की प्रार्थना पर कौन ध्यान देता है? दरिद्रता के भयंकर हुंकार-नाद से, अत्याचार के विकराल कृत्य और माया के पैशाचिक व्यवहार से व्याकुल होकर जब संसार चिल्लाता है, तब कौन आता है? कौन सुनता है? मेरा विश्वास है—विश्व-हृदय का विश्वास है—कि निर्बल की, शक्ति-हीन संसार की

प्रार्थना विश्वेश्वर के कानों में प्रवेश ही नहीं करती। वह माया के अंचल से टकराकर विलुप्त हो जाती है। क्यों? सो वही जानें, या जानें उनके प्रधान कर्मचारीगण।

कैसी शोचनीय स्थिति है? कैसा कुत्सित व्यापार है? किंतु हाय, विश्व कैसा भोला है! संसार कितना वज्रमूर्ख है! प्रत्येक की प्रत्येक बात पर—माया की नित्य-नूतन घोषणा पर—विश्वास करके स्वर्ग का स्वर्गीय फल करतल-गत करने के लिये संसार कैसा लालायित है! किंतु निर्बल लालसा, प्रभाव-शून्य प्रार्थना, असमर्थ रोदन, शक्ति-हीन चीत्कार, गौरव-गलित बद्धांजलि—इन्होंने किसको किस समय वांछित फल की प्राप्ति में सहायता दी है? गौरव-गिरि पर आरूढ़ होने के लिये जो इन निर्बल साधनों का आश्रय लेता है, आत्म-शक्ति पर निर्भर न रहकर, जो परमुखापेक्षी होता और राज्य की भिक्षा माँगता है, उसके शिखर पर पहुँचने की अपेक्षा लज्जा की गुफा में पतित होने की ही अधिक संभावना है। तब बोलो संसार, तुम कौन-से मार्ग का अवलंबन करोगे? "महाजनो येन गतः स पंथाः" का, या "इच्छागृहीतोग्रकरालमार्गः" का?

( ५ )

यदि दुर्योधन ने सूची के अग्र-भाग के बराबर भी पृथ्वी देने में अनिच्छा प्रकट करके महाभारत का बीजारोपण किया था, तो पांडवगण भी तो संतोष धारण करके पृथ्वी को रक्त-

रंजित करने से विरत नहीं हुए थे। भगवान् ने भी देवतों के कुल का विनाश रोकने के लिये राक्षस-कुल का विनाश किया था—पृथ्वी को रक्तमयी बनाया था। किसलिये? धर्म की रक्षा के लिये। अधर्म की हत्या केवल धर्म की रक्षा के लिये की जाती है—यह क्यों? अधर्म अपने कर्तव्य का पालन करता है, धर्म अपने मार्ग पर चलता है, तब निर्विकार, निरंजन को इतना पक्षपात क्यों? अनेक असुरों की तप्त रुधिर-धारा से पृथ्वी की उन्मुक्त वेणी को बाँधने का प्रबल आवेश क्यों? होने देते!—धर्म और अधर्म के बल की परीक्षा होने देते! स्वर्ग और पृथ्वी का झगड़ा चलने देते! देवतों की ईर्षा-बुद्धि का क्या कोई अपराध नहीं है? देवतों ने क्या राक्षसों का समूल नाश करने की चेष्टा नहीं की थी? राक्षसों ने क्या तप की परा काष्ठा नहीं दिखाई थी? ऋषियों ने—संयमशील देवर्षियों ने—क्या उन्हें साधारण अपराध पर भयंकर शाप नहीं दिए थे? तब इतना पक्षपात क्यों? भगवच्छक्ति का इतना अपव्यय क्यों? इतनी ऊँची क्रोध की ज्वाला क्यों? यदि जगदीश्वर तटस्थ होकर देखते, तो उन्हें ज्ञात हो जाता कि ये सब अत्याचार और अनाचार केवल-मात्र संसार की अनुचित शासन-प्रणाली के अनिवार्य परिणाम हैं।

अस्तु, निर्बल को सब सहन करना होगा—यह निर्विवाद है, सनातन-स्थापित नियम है। आत्मा को नश्वर शरीर के कारागार में अवरुद्ध होना होगा; प्रवृत्ति को अत्याचार की

लिप्सा परिपूर्ण करने के लिये उसकी उपपत्नी बनना होगा;
मति को संसार की हत्या के लिये विष-वमन करना होगा;
और हृदय को कलेवर के पिंजर में पड़े-पड़े अनंत काल तक
तड़पना होगा। ऐसी स्थिति में यदि विश्व को स्थित रखने
की आवश्यकता प्रतीत होती है, तो यह उन्हीं मदांध
कर्मचारियों का—उन्हीं लोलुप माया के अनुचरों का—प्रस्ताव
है। मोह, तुम विश्व का मंथन भले ही कर डालो; द्रोह, तुम
अपने कराल करों से विश्व की उठती हुई अभिलाषा का
दमन भले ही कर डालो; किंतु यह निश्चित है कि विश्व के
हृदय की धधकती हुई अग्नि, अनंत काल में, तुम्हें भस्म करके
छोड़ेगी। माया की मरीचिका ऐंद्रजालिक आयु रखती है।
उस अनंत काल तक स्थित रहनेवाले संसार को सदा के लिये
शृंखला में बाँध रखना सहज नहीं है। यह शृंखला काल के
सर्व-विनाशी कराल कर से विनष्ट हो जायगी। आशा!
आशा!! फिर—फिर आशा! इस प्रत के अंतिम उन्माद के
समय तुम्हारे इस पांडु-वर्ण मुख में, मरण-छाया की भाँति, हँसी
का आभास क्यों? क्यों? क्या यह भी माया का ही खेल है?

संसार, परित्याग कर दो, सब कुछ परित्याग कर दो!
आशा और निराशा, अभिलाषा और पूर्ति—ये ही सब जाल
हैं। इन्हीं में फँसकर तुम्हारी मति भ्रांत हुई है। स्पष्ट शब्दों में
कह दो, निर्भीक गर्जना द्वारा घोषित कर दो, माया की राज-
नीति के साथ संसार सहयोग नहीं करेगा। संसार अपना एक

आसन रखता है; विश्व अपनी एक स्थिति रखता है। उस स्थिति का विनाश करनेवाले के साथ—विश्व की मान-मर्यादा को बिना किसी संकोच के तोड़ने की इच्छा रखनेवाले के साथ—संसार, आत्म-सम्मान के लिये, कोई संपर्क न रक्खेगा। संसार स्वयं अपना राज्य करेगा। माया के अनियमित अत्याचार से संसार की कैसी दुर्दशा हुई है! संसार सूखकर, समस्त आत्मिक तथा लौकिक विभूति खोकर, कंकालशेष हो गया है। हो चुका! आश्वासन का आनंद अच्छी तरह भोग लिया! मरीचिका की चमक देख ली! भ्रम का नाट्य हो चुका! अब दूर पर एक ज्योति है, उसी का अवलंब है। हट जाओ माया! दूर कर लो अपना आवरण! जी-भरकर देखने दो उस सौंदर्य को—उस अविनश्वर तुरीय धाम को!

संसार अश्रु-जल से अभिषिक्त होकर, दिशाओं का अंबर परिधान करके, हिमाचल की अचल वेदी पर, अपूर्व आत्म-संयम के आसन पर स्थित होकर, अनंत गगन-मंडल के निम्न भाग में, विशाल ब्रह्मांड-समुदाय के सम्मुख, पश्चात्ताप की परम पवित्र ज्वाला में, आत्म-बलि देने को उद्यत है। भौतिक ब्रह्मांडों के निवासियो! देखो, इस पुनीत दृश्य को, और हे विश्वेश्वर, यदि तुम अपने विश्वास को नास्तिकता की गंभीर गुफा में गिरने से बचाना चाहते हो, तो संसार के सार्वभौम स्वराज्य की घोषणा कर दो!

---

## शांति-निकेतन

( १ )

पारिजात-निकुंज में स्फटिक-शिला पर बैठी हुई हास्य-मुग्धी कल्पना ने विषाद-वदना चिंता के चिबुक को कर-कमल से उठाकर कहा—"बहन ! चलो, इस चंद्रिका-धौत गगन-मंडल में विहार करें !" चिंता ने अन्यमना होकर उत्तर दिया—"ना बहन ! मुझे इस कुंज की सघन छाया ही में विश्राम मिलता है !" कल्पना ने अभिमान में भरकर लोचन अश्रु-पूर्ण करके कहा—"बैठो बहन ! मैं तो इस विस्तृत ब्रह्मांड के प्रत्येक धाम का निरीक्षण करूँगी।" चिंता को चिंता-निमग्न छोड़कर कल्पना चंद्रिका-चर्चित नभः-प्रदेश में विहार करने के लिये चली गई।

कल्पना के कलित कलेवर में शीतल समीर ने सुरभित सुमन-समूह का पराग लेकर अंगराग लगाया; चंद्रिका ने हँसकर सुधा-स्नान कराया; अंबर ने नीलांबर पहनाया, तारकावली ने हीरक-हार पहनाया; स्वर्ग-मंदाकिनी ने कर-कमल में कांचन-कमल का उपहार दिया। इस प्रकार सुसज्जित होकर, सर्वत्र-गामी मनोरथ पर आरूढ़ होकर, कल्पना कनक-राज्य में विचरण करने के लिये निकली। और चिंता ? विषाद-वदना चिंता उसी पारिजात-कानन के स्निग्ध छायामय निकुंज में बैठकर किसी की चिंता करने लगी।

निद्राभिभूत चंद्रशेखर कल्पना के रथ की गति को देखने लगे। देखते-देखते मनोरथ दृष्टि-पथ से अंतर्हित हो गया। चंद्रशेखर व्याकुल होकर कल्पना के लिये पुकारने लगे। उनकी आँख खुल गई; स्वप्न की स्निग्ध आभा चैतन्य के अत्युज्ज्वल आलोक में विलीन हो गई।

प्रातःकाल का शीतल पवन ललित लताओं को आलिंगन करता हुआ बह रहा था; कनक-कुंज में बैठकर कलित-कंठ कोकिला कोमल कुसुम को जगाने के लिये प्रभाती गा रही थी; यामिनी उषा को अपना राज्य देकर सघन वन की अंधकार-मयी छाया में तप करने के लिये जा रही थी।

कल्पना चिंता को निकुंज में परित्याग करके स्वयं संसार में परिभ्रमण कर रही थी।

चंद्रशेखर ने देखा—आश्चर्य और आह्लाद के अपूर्व सम्मिश्रण में, स्वप्न और सत्य के सुवर्ण-राज्य में, ध्यान और ध्येय के विचित्र सम्मिलन में, अभिलाषा और पूर्ति की अनोखी संधि में, देखा, कल्पना फूलों के राज्य में विहार कर रही है।

चंद्रशेखर ने निकट जाकर पूछा—"कौन? कल्पना!"

कल्पना ने उत्तर दिया—"मैं कल्पना नहीं, किशोरी हूँ।"

कल्पना की भाँति किशोरी भी उसी क्षण अंतर्हित हो गई। चंद्रशेखर अनिमेष-लोचन से देखने लगे।

कुतूहल और कल्पना—दोनो सहोदर हैं।

( २ )

यामिनी और उषा के अंतिम आलिंगन के समय, स्मृति और प्रत्यक्ष की क्षणिक संधि के अवसर पर, स्वर्ग और संसार के निमेष-व्यापी मिलन के मुहूर्त में, स्वप्न और सत्य के चुंबन-व्यापार के क्षण में, चंद्रशेखर ने किशोरी का कांत दर्शन प्राप्त किया था। उस समय विकार का आडंबर नहीं था; स्निग्ध शांति का सुंदर सुराज्य था। चंद्रशेखर ने जो दृश्य देखा, वह भूलने योग्य नहीं था। संसार के रंगमंच पर सौंदर्य का एक अपूर्व अभिनय था। चंद्रशेखर केवल दर्शक ही नहीं थे, उन्होंने उस अभिनय में भाग भी लिया था। तब भला वह उसे कैसे भूल सकते थे! स्वर्ग से दूर रहकर भी पुण्य-प्रवृत्ति ऊँची उठती है; पंक में पतित होकर भी हीरक-ज्योति अपनी आभा का विस्तार करती है; विपत्ति के अंधकार-गह्वर में भी आत्मा का आलोक दृष्टिगोचर होता है—तब स्वभाव के सुकुमार बंधन में बँधकर मनुष्य अपनी कृति की स्मृति को कैसे विस्मृत कर सकता है?

चंद्रशेखर का हृदय किशोरी के नव-यौवन-वन में, विहार करने लगा। लावण्य-सरोवर के विकच इंदीवर-नयन में, प्रफुल्ल गुलाब के सुकोमल पल्लवाधर में, तुषार-कण-सिक्त विकसित कमल-कपोल में, नव-दूर्वादल-श्याम रोम-राजि में, हिमाचल के कलित कनक-शृंग में, चंद्रशेखर का हृदय तन्मय होकर विहार करने लगा। चंद्रशेखर संसार में रहकर भी कल्पना-कल्प

किशोरी की मधुर मूर्ति के साथ स्वर्ग में विहार करने लगे। इस स्वर्ग में समीर था, किंतु शीतलता नहीं थी; तन्मयता थी, किंतु आनंद नहीं था; राग था, किंतु उतार नहीं था। चंद्रशेखर प्रणय-पर्वत पर स्थित होकर अचेत होने लगे। कौन जानता था कि उनका पतन स्वर्ग में होगा, अथवा रसातल में? इस संबंध में क्या चंद्रशेखर सदुपदेश का सादर ग्रहण करेंगे?

किशोरी किशोरावस्था की सीमा पर पहुँच चुकी थी। यौवन की उद्दाम प्रवृत्ति की रंग-भूमि में किशोरी ने प्रथम चरण रक्खा था। यौवन के तीव्र मद की अरुणिमा उसके नयन-कमलों में दृष्टिगोचर होने लगी थी। उसकी गति में भी सुरा का मतवालापन परिलक्षित होता था। आनंद-मद से भरी हुई निःश्वास एवं प्रत्येक अंग का विकास खिलती हुई कली के सदृश प्रतीत होता था। कैसा अपरूप लावण्य था! शरत्काल के विमल जल की भाँति, दर्पण की स्वच्छता की भाँति, पुण्यात्मा के हृदय की भाँति, सती के प्रेम की भाँति उसका समस्त शरीर देदीप्यमान हो रहा था। कमलिनी ने अभी तक बाल रवि के प्रथम किरण-स्पर्श से उत्पन्न होनेवाले विद्युत्प्रवाह का अनुभव नहीं किया था; कुमुदिनी ने कलाधर की सुधा-धारा में अवगाहन नहीं किया था। कैसी मनोरम संधि थी! कैसा मृदुल मिलाप था! स्वच्छ सुंदर गगन में मानो लालिमा की प्रथम रेखा थी; कैशोर-कानन में यौवन-वसंत का मानो

प्रथम पद-संचरण था; प्रतिपदा और द्वितीया के सम्मिलित योग में सुधाधर की मानो पहली कला थी; स्वच्छ तुषार के ऊपर मानो बाल रवि की प्रथम किरण थी; पकते हुए रसाल के ऊपर प्रकृति की लेखनी से चित्रित की हुई मानो प्रथम अरुण-रेखा थी; नंदन-वन की पारिजात-लता का मानो प्रथम विकास था; सौंदर्य की रंग-भूमि पर रति-देवी की मानो पहली तान थी।

परिधान! सुंदर शरत्काल की यामिनी माना चंद्रिका की साड़ी पहनकर खड़ी हुई थी; गुलाब की अधखिली कली मानो जुही की साड़ी पहनकर विहार करने आई थी; आदि-कवि की कल्पना मानो वाणी का शुभ्र अंबर परिधान करके साहित्य के उपवन में घूम रही थी; आत्मा मानो उज्ज्वल सत्य की साड़ी पहनकर पवित्रता के परम पावन वन में पुष्प-चयन कर रही थी! चंद्रशेखर इस रूप पर, इस वेष पर बलिहार हो गए।

चंद्रशेखर उपवन में इधर-उधर घूमने लगे। उपवन उसी प्रकार शांत एवं मनोरम था; किंतु चंद्रशेखर को प्रतीत होता था, मानो प्रत्यक्ष स्मृति के गर्भ में लोप हो गया; ध्वनि प्रतिध्वनि में लीन हो गई; राग मूर्च्छा के विवर में विलुप्त हो गया, और राजराजेश्वरी भगवती कल्याण-सुंदरी की मृदुल हास्य-ध्वनि निस्तब्धता की गंभीर गुफा में अंतर्हित हो गई।

( ३ )

कितने ही दिवस व्यतीत हो गए। ऋतुराज का रामराज्य समाप्त हो गया; ग्रीष्म का भीषण साम्राज्य भी अंतर्हित हो गया। उत्तप्त कलेवर पर पीयूष-प्रवाह की भाँति, पश्चात्ताप-दग्ध हृदय पर करुणामय की अजस्र करुणा-धारा की भाँति, शाप-संतप्त मानव-मानस पर दया की आशीर्वाद-लहरी की भाँति सूर्य-तप्त पृथ्वी-मंडल पर नील-नीरज-श्याम सघन-घन की शीतल वारि-धारा पतित होने लगी। चंद्रशेखर की स्मृति-दामिनी भूतकाल के सघन अंधकार को पाकर और भी तीव्रता से चमकने लगी। घोर अंधकार के मध्य में दामिनी की वह तीव्र ज्योति—स्मृति का वह अक्षय दीपक—किशोरी का वह कल्पनामय कांत कलेवर—चंद्रशेखर को दुःख देकर भी कराल काल की कालिमामयी कंदरा में पतित होने से बचा लेता था।

सुविशाल गंभीर महासागर में निमग्न होता हुआ नाविक दूर पर—बहुत दूर पर—पृथ्वी और आकाश की मिलन सीमा पर—उड़ती हुई जल-यान की वैजयंती का दर्शन पाकर, जिस प्रकार मृत्यु की भीषण कंदरा में पतित होने से बचने के लिये चेष्टा करता है, सहस्र-सहस्र विपत्तियों के जाल में आबद्ध मानव दूर पर, भविष्य के अंधकारमय गगन में—आशा की कल्पनामयी ज्योति को देखकर जिस प्रकार इस असार संसार पर अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के प्रयत्न

में प्रवृत्त होता है, उद्भ्रांत पथिक निराशा के भयंकर मरु-प्रदेश में, उत्तप्त रेणुका-राशि के मध्य में, दूर पर—बहुत दूर पर—मरीचिका की मायिक छटा को देखकर जिस प्रकार अपने प्राणों का इस नश्वर देह में कुछ काल के लिये और भी बंदी रखने का प्रयास करता है, ठीक उसी प्रकार चंद्रशेखर किशोरी को—अपने हृदय-साम्राज्य के एक-मात्र आधार-स्तंभ को—अपने मानस-सरोवर के एक-मात्र विकसित सरोज को—अपने प्रणय-पादप के एक-मात्र विकच पुष्प को—अपनी जीवन-व्यापिनी यामिनी के एक-मात्र उज्ज्वल नक्षत्र को—दूर पर, समाज और धर्म की सीमा के परे, लोक और परलोक के अंतिम छोर पर, स्वर्ग और संसार की अंतिम रेखा पर, देखकर उसकी मृदु मुसकान पर अपना सर्वस्व लौकिक और पारलौकिक वार देने के लिये प्रेम के पारावार का पार करके अपनी रक्षा करने की चेष्टा में प्रवृत्त हो रहे हैं। हाय! चंद्रशेखर! तुम्हारा कैसा दुस्साहस है; कैसा असंभव अभिमान है; कैसा व्यर्थ स्वार्थ-त्याग है।

चंद्रशेखर प्रायः सब समय ही उपवन में रहते हैं। वह कल्पना का साहचर्य पाकर, किशोरी को नायिका बनाकर, भावों की रस-लहरी को प्रवाहित करके, अपने हृदय-पट पर, अव्यक्त भाषा में, मनोहर चिंता-छंद में एक महाकाव्य की रचना करते हैं। छद के साथ कहीं वीणा भी बज जाती! रस-मंदाकिनी यदि कहीं उन चरण-कमलों को भी चूम पाती! कल्पना यदि

कहाँ किशोरी का श्रृंगार कर पाती ! किंतु उषा के बिना प्रातःकाल का वैभव निष्फल है ; पात्र के बिना रस का आधार नहीं है ; सौंदर्य के बिना भक्ति का प्रवाह व्यर्थ है, और किशोरी के बिना जगत् शून्य है।

चंद्रशेखर उसी शून्य में आत्म-विस्मृत होकर घूमने लगे। उपवन की फल-विनम्र पादप-राजि, कुसुमाभरण-भूषिता लता-श्रेणी, दुग्ध-फेन-विनिंदित दूर्वा-दल, कलकंठ पक्षि-कुल, अधिक क्या प्रकृति का संपूर्ण वैभव भी उनको अनेक प्रलोभन देकर भी शून्य में जाने से न रोक सका। चंद्रशेखर निरुद्देश हृदय, अनियंत्रित गति, उदासीन मति, अवांछित आशा और अशेष ज्वाला के साथ, इस जगत् के महाशून्य में गृह को परित्याग करके चल दिए। सब कुछ टूट गया, केवल एक बंधन है ; जीवन की विद्युत् के साथ उसका संबंध है। जिस दिन वह टूटेगा, उस दिन संभवतः चंद्रशेखर इस जगत् में नहीं रहेंगे।

कैसा आश्चर्य है—कठिन जीवन एक सूक्ष्म तंतु पर अवलंबित है।

( ४ )

महाशून्य की महाशांति कैसी भयंकर है। अर्ध-निशा के समय श्मशान-भूमि में, यामिनी के तृतीय प्रहर की समाप्ति के समय, मरणोन्मुख व्यथित की मृत्यु-शय्या के पार्श्व-देश में, निर्घोष उल्कापात के समय तिमिरावृत गगन-मंडल में, निर्बोध के हृदय पर अत्याचार के समय नीरव आघात में—कैसी भयंकर

शांति होती है, उसका अनुभव इस मत्सरमय संसार को अनेक बार प्राप्त हुआ है। उसी महाशून्य की महाशांति में, महारात्रि की महानीरवता में चंद्रशेखर कूद पड़े हैं। महाज्योति का आभास पाकर, महासंगीत का निनाद सुनकर चंद्रशेखर पार हो सकेंगे या नहीं, इस विषय में संदेह करना मूर्खता का लक्षण नहीं है।

चंद्रशेखर ने अनेक तीर्थों में परिभ्रमण किया, अनेक पुनीत-सलिला सरिताओं में स्नान किया, अनेक जन-शून्य काननों में परिभ्रमण किया, किंतु उस महाशून्य में वल्लकी के स्वर कभी नहीं गूँजे, आनंद की भैरवी का रव कभी कर्ण-गोचर नहीं हुआ, अभिलाषा की ताल पर आशा के उस मनोहर नृत्य की पद-झंकार कभी नहीं सुनाई दी। उसी महाशांति के बीच में चंद्रशेखर एकाकी घूमने लगे। महाशून्य में परिव्याप्त महावायु ने मानो उनकी हृदयाग्नि को और भी भयंकर रूप से प्रज्वलित कर दिया। अब वेदना का नीरव दर्शन और व्याधि की निर्घोष ज्वाला उनके उस काम-कल्प कोमल कलेवर को भस्मसात् करने का प्रबल आयोजन करने लगी।

कहाँ है वह स्निग्ध नवनीत-तुल्य शांति—जो शांति संसार-त्यागी महात्माओं का भी हृदय आकर्षित कर लेती है, सघन वन में उत्पन्न होनेवाली कली को चूमकर हँसा देती है, शैल-शिखर पर स्थित होकर औषधि-वर्ग में संजीविनी-शक्ति का संचार कर देती है, नंदन-कानन में पारिजात को विकसित करती है, ऋषियों के हृदय में आत्मा के स्वरूप का—आनंद की अक्षय

ज्योति का—दर्शन कराती है, उषा के निद्रित नयनों में प्रद्युम्न की मनोहर मूर्ति को लाकर स्थापित करती है, निर्बोध बालक के मंजुल मुख पर मंदहास्य, मातृत्व के पवित्र वक्षःस्थल में करुणा और भ्रातृत्व के पवित्र हृदय-सदन में स्वार्थ-त्याग की लहरी प्रवाहित करती है। जिसकी छाया में योगी की आत्मा निर्वाण-पद को प्राप्त करती है, जिसके आश्रय में सुर-निवास स्वर्ग की पदवी धारण करता है, जिसके चरणतल में स्थित होकर धर्म अपनी रक्षा करता है, पुण्य पादप जिसकी पद-निःसृत मंदाकिनी से सिंचित होकर ऊर्द्ध्वमूल कहलाता है, जिसकी प्रणय-मुद्रा को देखकर त्रसित आश्वस्त हो जाते हैं, जिसकी मृदु मुस्कान देखकर अचल अचल हो जाते हैं, जिसका वीणा-विनिंदित स्वर सुनकर उन्मत्त होकर, वायु मंद-मंद बहने लगता है, जिसकी कांति को देखकर जल आत्म-विस्मृत होकर, निर्मल शांत होकर, अनंत की ओर प्रवाहित होता है, वह शांति—प्यारी शांति—कहाँ है? चंद्रशेखर उसके लिये व्यग्र हो गए। उस शांति को प्राप्त करने के लिये अशांत हो गए। उमड़ा हुआ हृदय-पयोधि नयनों से बह चला। वह अश्रु-धारा हृदय की धधकती हुई अग्नि में घृत-धारा अथवा शीतल वारि-धारा होकर पतित होगी—सो कौन कह सकता है!

गिर पड़े! चंद्रशेखर हिमाचल की उस परम रम्य उपत्यका में, कदली-वन-वाहिनी कल्लोलिनी के कोमल दुकूल पर, चंद्रिका-

चर्चित शिला-खंड पर, मंद पवनांदोलित कुसुम-शय्या पर, शांति का पवित्र आश्रय न पाकर मूर्च्छा के कोमल क्रोड़ में पतित हो गए।

मूर्च्छा शांति का क्षीण आभास है।

( ५ )

मूर्च्छा निद्रा की सहोदरा है। जिस प्रकार निद्रा श्रमित विश्व को अपने विशाल वक्षःस्थल पर सुलाकर शांति प्रदान करती है, उसी प्रकार मूर्च्छा भी व्यथित प्राणी को अपनी गोद में लेकर उसे शांति-प्रदान करके फिर तुमुल संग्राम के लिये प्रस्तुत करती है। मूर्च्छा के कोमल क्रोड़ को छोड़कर निद्रा की आनंद-दायिनी गोद में चंद्रशेखर कब आए--सो भगवती ही जाने।

× × ×

चंद्रशेखर ने स्वप्न देखा—

वर्षा-ऋतु का प्रथम प्रातःकाल है। कैलास के कांचन शिखर पर नवीन नीरधर मरकत और कनक के अपूर्व संयोग की अनोखी छटा को दिखा रहे हैं। कदली-वन के अभ्यंतर में कोकिल अपने कलकंठ से बोल रही है। मानस-सरोवर का शुभ्र निर्मल जल गगन-व्याप्त सघन घन-पुंज की छाया को धारण करके कालिंदी के घनश्याम-रंजित नील जल की समता कर रहा है। गोपिकाएँ मानो मराल-माला बनकर नील नीरज को चतुर्दिक् से परिवेष्टित कर रही हैं। मयूर हर्षोन्माद से नृत्य कर रहे हैं। पवनांदोलित जल-तरंग-माला यौवन के प्रथम

आवेग में, एक दूसरे के गले में मिलकर प्रियतम के आलिंगन के काल्पनिक सुख का अनुभव कर रही है। समय कैसा सुंदर है; कैसा शांत और मनोरम है!

उन्होंने देखा—सूर्य-किरण-माला का उल्लास-प्रद नृत्य नहीं है, किंतु शीतल छाया की मनोहर पद-झंकार है; वसंत का विकार-वर्धक वायु नहीं है, वरन् व्याकुल हृदय को शीतल करनेवाली मंद समीर है। ज्योति का तीव्र तेज नहीं है, वरन् शांति की स्निग्ध छाया है। चंद्रशेखर ने स्वप्न में उस चिराभिलषित शांति का सुखद सहवास प्राप्त किया।

उन्होंने देखा—एक लता-मंडप में एक शिला-खंड पर, नृत्य एवं कलोल करती हुई कल्लोलिनी के तट पर कल्पना और चिंता बैठी हुई हैं। चिंता का मुख-मंडल मानो दया का पारावार था; कल्पना का सुंदर वदन-मंडल मानो शृंगार की मंदाकिनी थी। चंद्रशेखर कुसुमाच्छादित द्वार-देश पर खड़े होकर उन दोनो की बातें सुनने लगे।

कल्पना ने कहा—"बहन! कहाँ है वसंत का वह मनोहर वेश? कहाँ है समीर की वह मदमत्त गति? कहाँ है कोकिल की वह उन्मत्त कूक? ज्ञात होता है, मानो एक महान् छाया ने अपने अंचल में उस वसंत के सूर्य को छिपा लिया है।"

चिंता ने कहा—"ना बहन! यह वसंत का परिवर्तित वेश है। विलास के गान से मुखरित वन में आज शांति का

कोमल स्वर परिव्याप्त हो रहा है। सूर्य की अभिमानिनी किरण-माला को अपने वक्षःस्थल में छिपाकर भगवान् की सुस्निग्ध छाया अपनी उदारता का परिचय दे रही है। बहन, ब्रह्मांड के समस्त धामों में विहार न करके यदि केवल उसी में विहार किया जाय, जिसके चतुर्दिक् अनंत ब्रह्मांड घूमते हैं, तो जीवन का दुःख सुख में परिवर्तित हो सकता है; उन्मत्त युवक वसंत शांत प्रावृट्-संन्यासी के रूप में परिवर्तित हो सकता है! आज वसंत का वही संन्यास-वेश है। वसंत संसार का साम्राज्य छोड़कर, प्रकृति के विशाल वक्षःस्थल पर, उसके स्तनद्वय की पुण्य-पीयूष-धारा को पान करके, ज्ञान की कांचन-कंदरा में निर्वाणदायिनी शांति का आश्रय ग्रहण कर रहा है। कल्पना! देखती हो इस मूर्ति को?"

कल्पना ने कहा—"हाँ, देखती हूँ बहन!"

चिंता ने कहा—"तब आओ! तुम्हारे पृथक् रहने की आवश्यकता नहीं। मेरी विभिन्न विभूति की भाँति अब तुम भी मेरे ही में अंतर्हित हो जाओ।"

कल्पना चिंता में तल्लीन हो गई। किंतु चिंता के मुख पर वही मंद हास्य था, जिसे शिशु माता के मुख पर, बाल-किरण कुसुम के अधर पर, योगी उषा के वदन पर, त्यागी संतोष के ओष्ठ पर और व्याकुल शांति के उज्ज्वल आनन पर देखता है।

चंद्रशेखर ने देखा—प्रकृति की प्रकृत शांति विशुद्ध चिंता

के रूप में, योगियों के हृदय-सदन में, बालकों के मन-सुमन में और विश्व-प्रेम के परोपकार-प्रासाद में रहती है। चंद्रशेखर आनंदातिरेक से जाग उठे।

× × ×

चंद्रशेखर ने देखा— सामने एक वृद्ध योगीश्वर बैठे हैं। चंद्रशेखर ने उन्हें प्रणाम किया। योगीश्वर ने आशीर्वाद देकर कहा —"वत्स, मेरे साथ आओ।"

धर्म विश्वास को, त्याग परोपकार को और संतोष नैराश्य को मंत्र-दीक्षा देने के लिये ले चला।

चंद्रशेखर और योगीश्वर ने उसी कदली-वन में प्रवेश किया। चंद्रशेखर को प्रतीत हुआ कि उनके उत्तप्त हृदय पर मानो शांति-कादंबिनी की प्रथम पीयूष-धारा पतित हुई।

योगीश्वर और चंद्रशेखर उस कदली-वन के अभ्यंतर में अग्रसर होने लगे। मधुर स्वर से पतन होनेवाली जल-धाराएँ, झूमती हुई कुसुमाभरण-भूषिता लताओं की गोद में हँसते हुए गुलाब-कुसुम, चित्र-विचित्र पक्षिकुल का मधुर स्वर— सब मिलकर योगीश्वर और चंद्रशेखर का अभिनंदन करने लगे। कदली-दल ने अपने दीर्घ बाहुओं को मानो उन्हें आलिंगन देने के लिये प्रसारित किया। चंद्रशेखर और योगीश्वर प्रकृति के साम्राज्य में विचरने लगे।

कदली-कानन के अभ्यंतर में एक वन्य चमेली का मनोहर लता-मंडप है। पीत पुष्पों से समस्त वनस्थली वसंत की शोभा

का परिहास कर रही है। इधर-उधर से दो-तीन झरने कल-कल शब्द करते हुए बह रहे हैं। उसी लता-मंडप के सम्मुख योगीश्वर और चंद्रशेखर खड़े हो गए।

योगीश्वर ने कहा—"चंद्रशेखर! स्वप्न की बात स्मरण है?"

चंद्रशेखर ने उत्तर दिया—"हाँ प्रभो, स्मरण है। इस समय मैं स्वप्न को सत्य के स्वरूप में देख रहा हूँ।"

योगीश्वर ने कहा—"देखोगे—आगे चलकर और भी देखोगे। अपने प्रेम के व्यक्तित्व को अनंत महासागर में निमग्न कर दो।"

चंद्रशेखर ने कहा—"कैसे करूँ भगवन्, जिसको हृदय के सिंहासन पर बिठाया है, उसे उतारकर महाशून्य में कैसे फेक दूँ?"

योगीश्वर ने हँसकर कहा—"चंद्रशेखर, महाशून्य में नहीं! मैं कहता हूँ अनंत में। आँखें उठाओ।"

चंद्रशेखर ने आँखें उठाकर देखा, लता-मंडप में, वन्य पुष्पों के कोमल आसन पर, अनंत सुषमामयी भगवती भारत-माता खड़ी हैं। चंद्रशेखर ने नत-शिर होकर प्रणाम किया।

योगीश्वर ने कहा—"देखते हो, कैसी मोहिनी मूर्ति है! कैसी जननी स्वरूप है! मातृत्व की विमल धारा मानो दोनो स्तनों से बहकर संसार में शांति-पीयूष को प्रवाहित कर रही है। देखो मा का हीरक-खचित शुभ्र किरीट, नीलांचल चित्रित अंबर! और देखो मा का यह ऐश्वर्य! इन्हीं मा के पाद-पद्मों

में अपने प्रेम के व्यक्तित्व की अंजलि समर्पण कर दो। विश्व-प्रेम का पवित्र मंत्र ग्रहण करो।"

चंद्रशेखर ने कहा—"और किशोरी ?"

योगेश्वर ने चंद्रशेखर के सिर पर हाथ रखकर कहा—"किशोरी को गिरिराज-किशोरी के रूप में देखो।"

चंद्रशेखर ने देखा, किशोरी मानो माता की ममता-लहरी से चंद्रशेखर को अभिषिक्त कर रही है; सौंदर्य व्यक्तित्व को हटाकर संसार को अपनी वात्सल्यमय मुस्कान और प्रेममयी करुणा-धारा से शीतल कर रहा है।

चंद्रशेखर ने माता को साष्टांग प्रणाम किया। ज्ञात हुआ कि उत्तप्त कलेवर पीयूष में स्नान करके शीतल हो गया; वेदना मानो करुणा की आशीर्वाद-लहरी में अवगाहन करके शांत हो गई। चंद्रशेखर ने अपूर्व शांति प्राप्त की।

माता का कोमल क्रोड़ ही शांति का निकेतन है।

---

# कमनीय कहानी-संग्रह

## प्रेम-गंगा

अनुवादक, स्व० पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा। वस्तुतः यह पुस्तक प्रेम की निर्मल गंगा ही है। इसमें प्रेम की ऐसी रसीली कहानियाँ हैं कि पढ़कर आप मुग्ध और चकित हो जायँगे। सौंदर्य में कैसी विचित्र आकर्षण-शक्ति है, प्रेम में कितनी तेज़ बिजली भरी हुई है, सौंदर्य-प्रेमी कितना बड़ा दुस्साहसी बन जाता है, पुरुषार्थ और वीरता से कैसी-कैसी अलभ्य वस्तुओं का उपभोग किया जा सकता है, प्रेमी और प्रेमिका के हृदय में कितनी तीव्र मिलनोत्कंठा होती है इत्यादि बातें ऐसी मधुर, सरल, परिमार्जित और परिष्कृत भाषा में लिखी गई हैं कि पढ़ते-पढ़ते तबियत फड़क उठती है, हृदय नाच उठता है, मन मस्त हो जाता है। छपाई-सफ़ाई अतीव सुंदर और स्वच्छ। कई रंगीन और सादे चित्रों से सुशोभित पुस्तक का मूल्य १), सुनहरी रेशमी जिल्द १॥)

## प्रेम-प्रसून

गल्पों और कहानियों के स्वनामधन्य, सिद्ध-हस्त सुलेखक श्रीयुत प्रेमचंद की स्वाभाविकता-पूर्ण, सरस रचनाओं पर कौन लट्टू नहीं है। यह पुस्तक उन्हीं की चुनी हुई उत्तमोत्तम कहानियों का संग्रह है। यदि आप पुस्तक पढ़कर अपना अस्तित्व भूल जाने का आनंद लूटना चाहते हैं, तो इस पुस्तक को अवश्य पढ़िए। मूल्य १=), सजिल्द १॥=)

अश्रुपात

अनुवादक, श्रीराम शर्मा बी० ए० । मूल-लेखक ख़्वाजा हसन निज़ामी । 'बेगमात के आँसू' नाम का निज़ामी साहब की गल्पों का एक संग्रह उर्दू में प्रकाशित हो चुका है । यह उसी पुस्तक का अनुवाद है ! ख़्वाजा हसन निज़ामी की लेखन-शैली, भाषा-सौंदर्य और भाव-गांभीर्य प्रशंसनीय है । दिल्ली के ग़दर के उपरांत मुग़ल-वंश की कैसी भावनाएँ भोगनी पड़ीं, राजकुमारियाँ और राजकुमार कौड़ी-कौड़ी के लिये कैसे तरसे आदि बातों का वर्णन बड़ी सरल और सुंदर भाषा में इसमें किया गया है । एक बार पुस्तक को उठाकर देखें । पुस्तक की विशेषता आप-से-आप प्रकट हो जायगी । पुस्तक का मूल्य १), सजिल्द १॥)

प्रेम-पंचमी

हिंदी के प्रसिद्ध गल्पकार श्रीप्रेमचंदजी की कहानियों से हिंदी-संसार भली भाँति परिचित है । उनकी सभी कहानियाँ बड़ी मनोरंजक और शिक्षाप्रद हुआ करती हैं । आज तक उनकी सैकड़ों कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं । इतने बड़े गल्प-कोष में से पाँच सर्वश्रेष्ठ रत्नों को खोजकर हमने एकत्र पुस्तकाकार प्रकाशित किया है । यह संग्रह स्कूलों और पाठशालाओं में कोर्स की तरह पढ़ाया जा सकता है । स्त्रियों और बालिकाओं को उपहार देने के लिये अनुपम चीज़ है । प्रत्येक हिंदी-प्रेमी के पास इसकी एक प्रति अवश्य रहनी चाहिए । आप भी अपनी प्रति आज ही ऑर्डर कर दीजिए । मूल्य ॥), १)

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार, ३६ लाटूश रोड, लखनऊ